चर्चा संग्रह

ब्रह्मचारी रायमल्लजी, जयपुर

चर्चा संग्रह

लेखक :
ब्रह्मचारी रायमल्लजी, जयपुर

हिन्दी अनुवादक :
वैद्य गंभीरचन्द जैन
अलीगंज (एटा)

–: प्रकाशक :–
मुक्ति प्रकाशन, अलीगंज (एटा)

चर्चा संग्रह

चौथा संस्करण : 2100 भगवान आदिनाथ ज्ञानकल्याणक,
24 फरवरी 2025 (फाल्गुन कृष्ण ग्यारस)

© सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य : 30 रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान :
– तीर्थधाम मंगलायतन
आगरा–अलीगढ़ राजमार्ग,
सासनी–204216 (हाथरस) उत्तरप्रदेश
– सर्वोदय अहिंसा
बी–180, मंगलमार्ग,
बापूनगर, जयपुर (राज.)। मोबा. 9509232733
– डॉ० योगेशचन्द्र जैन
अनेकान्त फार्मा,
अलीगंज (एटा), उत्तरप्रदेश। मोबा. : 7252095817

मुद्रक :
प्री एलविल सन, जयपुर।

प्रकाशकीय

विद्वतवर ब्रह्मचारी रायमल्लजी कृत यह चर्चासंग्रह एक महत्वपूर्ण कृति है। ब्रह्मचारीजी, आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी के अनन्यतम सहयोगियों में से एक रहे हैं। जिसका उल्लेख स्वयं टोडरमलजी ने निम्न पंक्तियों में किया है।

रायमल्ल साधर्मी एक, धर्म सधैया सहित विवेक।
सो नानाविधि प्रेरक भयो, तब यह उत्तम कारज थयो।।

इसके अतिरिक्त पं. दौलतरामजी कासलीवाल, पं. जयचन्दजी छाबड़ा आदि ने भी इनका उल्लेख आदरपूर्वक किया है।

इनकी तीन रचनाएँ प्राप्त हैं –

१. इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका;

२. ज्ञानानन्द श्रावकाचार;

३. चर्चासंग्रह

प्रस्तुत ग्रन्थ चर्चासंग्रह में उपयोगी प्रश्नोत्तरों को चयनित करके प्रकाशित किया जा रहा है। इसमें अधिकांश भाग गणितीय है, जो जनोपयोगी शायद ही रहते। इसलिए उपयोगी प्रश्नोत्तरों को चयनित करके प्रकाशित किया जा रहा है। प्रकाशन के रूप में सर्वप्रथम जैनपथ प्रदर्शक जयपुर में इसको स्थान मिला था। आदरणीय वैद्य गंभीरचन्द्रजी अलीगंज के द्वारा प्रेषित किया जाता रहा था। चयनित प्रश्नोत्तर वैद्यजी के द्वारा ही है।

पुस्तकाकार के रूप में सर्वप्रथम 1990 में दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल उदयपुर एवं स्वाध्याय मण्डल कानपुर द्वारा प्रकाशन हुआ है। तत्पश्चात् द्वितीय संस्करण 1999 में शीलरतन ग्रन्थमाला, अलवर तथा तृतीय संस्करण भभूतमलजी भण्डारी बैंगलोर द्वारा 2004 में प्रकाशित हुआ है। परन्तु कालान्तर में इसकी माँग बराबर होती रही। इसीलिए चतुर्थ संस्करण के रूप में मुक्ति प्रकाशन अलीगंज को प्रकाशित करने का सौभाग्य मिला है।

मुक्ति प्रकाशन इसके पहले भी कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ, शोधकृति एवं बाल साहित्य कॉमिक्सों को प्रकाशित करता आ रहा है।

इस कृति के प्रकाशन में जिन-जिन लोगों ने महत्वपूर्ण सहयोग दिया है, उनके हम आभारी हैं। आशा है भविष्य में भी जैन साहित्य के प्रकाशन में सहयोग मिलता रहेगा। इस आशा व विश्वास के साथ

निदेशक
मुक्ति प्रकाशन,
अलीगंज, एटा (उ.प्र.)

प्रस्तावना

चर्चा, जो चर्या में न आवे तो, व्यक्ति की ऐसी अर्जित चर्चा उपहास की विषय-वस्तु बनकर रह जाती है - यह एक सामाजिक चिंतन है। तथापि यह भी सुविचारित तथ्य है कि एक आदर्श चर्या, चर्चा को अपनी प्रथम सीढ़ी बनाकर चलती है। यह एक स्वीकृत मनोवैज्ञानिक सत्य है, कि एक अपरिचित व्यक्ति से अनौपचारिक सहज रूप से की गयी चर्चा के क्षण, उसमें अन्तर्गर्भित चर्या के प्रतिबिम्ब होते हैं। कृत्रिम चर्चा के बल पर हम अकृत्रिम जीवनयापन नहीं कर सकते हैं। व्यक्ति उसी चर्चा में ज्यादा समय देना पसंद करेगा कि जो उसे रुचिकर हो, भले ही उसकी बाह्य चर्या में किन्हीं अपरिहार्य कारणों से वह न आ रही हो, परन्तु आंतरिक चर्या में तो वह चर्चा आ ही चुकी है। अतः की जा रही चर्चा को चर्या के बाह्य पक्ष के अनागत संकोच से चर्चा करना ही बंद नहीं कर देना चाहिए। क्योंकि विशिष्ट चर्चा से ही विशिष्ट चर्या का वातावरण सृजित होता है। वह वातावरण उसके लिये परम सहायक होता है।

यदि समाज व देश में अच्छी चर्चाओं का वातावरण होगा तो बुरे लोगों को भी उसी वातावरण के अनुरूप चर्चा करनी पड़ेगी, चाहे वह उसके जीवन में भले ही न आ सकी हो, परंतु वे एक चले आ रहे वातावरण को दूषित तो नहीं कर सकेंगे। चूंकि यदि चर्चा ही दूषित होगी, तो उससे समस्त वातावरण ही दूषित हो जाने से अच्छी चर्या एक स्वप्न मात्र रह जायेगी। अतः जो विवेकी हैं, धार्मिक व नीतिवान पुरुष हैं, वे निःसंकोच तात्विक चर्चा के रसिक होकर रस प्रवाह करें, ताकि सामान्य जन भी भवा-भाव रूप भाव अंदर में जगा सकें। ऐसा अलौकिक उपकार विरल विवेकी पुरुषों द्वारा प्रायः हुआ करता है।

इसी कारण जैन धर्म में ऐसी तत्वचर्चाओं को प्रमुखता दी गयी है। तभी तो सर्वार्थसिद्धि के आत्म रसिक देव 33 सागर पर्यन्त तत्वचर्चा के बहाने वस्तुतः अपने अध्यात्म रस परिपाक को ही बनाये रखते हैं। जैसे गाय, आहार ग्रहण करने के पश्चात् जुगाली अवश्य करती है। उसकी इस जुगाली के दो कारण हो सकते हैं- एक यह कि, एक साथ ग्रहण किये पदार्थ को, धीरे-धीरे उदर से निकालकर उसका स्वाद लेती है; दूसरा, भरा पेट होने पर भी कोई अन्य और अनावश्यक पदार्थ प्रस्तुत न करे, इसके लिए मुँह चलाती रहती है। ताकि दाता यह समझ सके कि, इसके मुँह में बहुत कुछ है। अतः अन्य कोई पदार्थ नहीं रखेगा और वह गाय अपच से बच जाएगी। ठीक इसी तरह बहुत से नीति-न्याय धार्मिक, तत्त्वचर्चा-वार्ता का श्रवण-पठन करके उसी को किसी के सामने अवसरानुकूल बोले; ताकि अन्य लोग उसे ऐसा बोलते देखकर अनीति, अन्याय व अधर्मादि चर्चा प्रस्तुत नहीं कर सकेंगे, और वह इस तरह से संभावित पापों से बच जावेगा। समागत जन भी कदाचित् सन्मार्ग पर लगने से, वह महान पुण्य का भागी भी हो सकेगा।

समस्या तो यह है कि, सर्वार्थसिद्धि के देव तो तैंतीस सागर पर्यंत आत्मा को केंद्रित करके चर्चा करते रहते हैं, व चर्चाओं को निरंतर रूप से करते हुए भी चर्चाएँ समाप्त नहीं होती हैं। निरंतर रस परिपाक ही होता है, परन्तु मानव देहधारी, विशेष रूप

से गृहस्थों के लिए तो यह स्वप्निल तथ्य है। इसके लिए समय-समय पर विभिन्न विद्वानों ने उपलब्ध जिनवाणी से शंका-समाधानों के रूप में चर्चाएँ एकत्रित की थी। जो मुक्ति-पथ पर हमारी मेधा व रुचि की विषय-वस्तु रहीं। इन्हीं में एक कड़ी के रूप में ब्रह्मचारी पंडित श्री रायमल्लजी भी हैं।

ब्र. श्री रायमल्लजी पंडित टोडरमलजी के अनन्यतम प्रेरक व सहयोगी थे। जैसा कि स्वयं पंडित टोडरमलजी लिखते हैं कि -

रायमल साधर्मी एक, धर्म सधैया सहित विवेक।
सो नाना विधि प्रेरक भयो, तब यह उत्तम कारज थयो।।

पंडित टोडरमलजी, दौलतरामजी कासलीवाल, पंडित जयचंद छाबड़ा आदि विद्वानों ने पूर्णत: आदर सहित, अपनी-अपनी रचनाओं में उनको स्मरण किया है। वे जिनवाणी के प्रचार-प्रसार के लिए निरंतर दूसरों को प्रेरणा देते व उनकी प्रेरणा से ही, गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकसार, पद्‌मपुराण हरिवंशपुराण, आदि महान ग्रंथों की हिन्दी टीकाएँ लिखी गयी थी।

तत्त्वज्ञान से अछूते एक जैन परिवार में जन्में रायमल्लजी ने भीलवाड़ा से लगभग बारह कोस की दूरी पर स्थित सरावगियों के प्रमुख गढ़ शाहपुरा गाँव में, अपने अंधकारमय जीवन को समाप्त करते हुए धार्मिक जीवन प्रारंभ किया था। वे यहाँ सात वर्ष रहे, और यहीं पर उनका सम्यग्ज्ञान रूपी सूर्य उदित हुआ था। यह तथ्य इन्द्रध्वज विधान-महोत्सव पत्रिका पृष्ठ दो में देखने को मिलता है। इनके जन्म काल के संबंध में, डॉ० देवेन्द्रकुमारजी शास्त्री ने ज्ञानानन्द श्रावकाचार की प्रस्तावना में संवत् 1780 निर्धारित किया है।

ब्रह्मचारी श्री रायमल्लजी के तीन रचना-रत्न प्राप्त होते हैं - इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका; ज्ञानानन्द श्रावकाचार; और चर्चासंग्रह।

''इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका'' की रचना माघ शुक्ल 10, वि.सं. 1821 में सम्पन्न हुई थी। दूसरी कृति ''ज्ञानानंद निर्झरनिज रस श्रावकाचार'' में जैन सद्‌गृहस्थों के आचार का विशद व सरल शैली में वर्णन किया गया है। इस ग्रंथ का एक संस्करण वि.सं. 1975 में सद्‌बोध रत्नाकर कार्यालय, बड़ा बाजार, सागर से प्रकाशित हुआ था। इस संस्करण के संशोधक श्री मूलचन्द जी मैनेजर हैं। तत्पश्चात् एक और अन्य संस्करण श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, भोपाल से प्रकाशित हुआ है। इसके संपादक डॉ० श्री देवेन्द्रकुमार जी ने इस संस्करण की प्रस्तावना में पंडित जी का विशद एवं विस्तृत परिचय दिया है। जिसका मैंने भी अवलम्बन लिया है। अत: हम उनके इस कार्य हेतु आभारी हैं। पाठकों को श्री रायमल्ल जी का विस्तार से परिचय श्री देवेन्द्रकुमार जी की प्रस्तावना से प्राप्त करना चाहिए।

आदरणीय श्री रायमल्ल जी की तृतीय कृति ''चर्चासंग्रह'' है, जो कि अद्यतन अप्रकाशित थी। इसकी एक हस्तलिखित प्रति श्री दिगम्बर जैन मंदिर अलीगंज के शास्त्र-भंडार में उपलब्ध है। इस प्रति के लिपिकार श्री उजागर दास जी ने इसे वि.सं. 1854 में लिपिबद्ध किया था। उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों में यह अधिक प्राचीन व

शुद्ध है। यह ग्यारह हजार दो सौ श्लोक प्रमाण है। इसमें चारों अनुयोगों के उपयोगी प्रश्नोत्तर सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किये गये हैं। इस ग्रंथ की विषयवस्तु कहीं प्रश्नोत्तरों के रूप में व कहीं मात्र चर्चा के रूप प्रस्तुत है। इन प्रश्नोत्तरों को कहीं तो आगम के आधार पर प्रस्तुत किया गया है, व कहीं तर्क प्रमाण का अवलम्बन लिया गया है। सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि इनमें आगम ग्रंथों के स्वाध्याय तत्त्वचर्चा से, किसी एक तथ्य को इतनी स्पष्टता व विषय के प्रतिपाठन की संक्षिप्त परन्तु सारगर्भित शैली में प्रस्तुत किया गया है कि उनमें अपूर्वार्थता के ही दर्शन होते हैं। विषयवस्तु की स्पष्टता के साथ भाषा का नैसर्गिक प्रवाह पल्लवित हुआ है।

सन् 1982 में जैनपथ प्रदर्शक में, लगभग तीन वर्ष तक इसके उपयोगी प्रश्नोत्तर क्रमश: प्रकाशित हुए थे। प्रतिक्रिया स्वरूप अनेक पाठकों के प्रेरणा पूर्ण पत्र इस ग्रंथ को प्रकाशनार्थ आए थे। परन्तु उस समय इसके प्रकाशन का नियोग नहीं बन पाया था। परंतु इसके अति उपयोगी चर्चाओं का संपादन प्रारंभ कर लिया था। इस समय चर्चासंग्रह को सम्पूर्ण प्रकाशित नहीं कर पा रहे हैं। क्योंकि इसमें बहुत से प्रकरण करणानुयोग की संदृष्टि के गणित भाग हैं; जो सामान्य पाठक के लिए अत्यधिक कष्ट-साध्य होते हैं। अत: वैद्य पण्डित श्री गम्भीरचन्द्रजी जैन, अलीगंज ने महत्वपूर्ण उपयोगी प्रश्नों का संकलन कर दिया है। प्रश्नों की प्रामाणिकता के लिए **प्रत्येक प्रश्नोंत्तरों के आगे चर्चासंग्रह के अलीगंज की पाण्डुलिपि की पृष्ठ संख्या भी देते गये हैं।** एक समस्या इन प्रश्नोत्तरों के अक्रमिक रूप से होना भी था। अत: मैंने सभी प्रश्नों को सुव्यवस्थित रूप से सजाकर पहले **प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग और अंत में द्रव्यानुयोग से विभाजित कर सम्पादन किया है।** परन्तु इन प्रश्नों को, स्पष्ट खण्ड रूप से प्रदर्शित इस कारण नहीं किया है कि कुछ प्रश्न एक से अधिक अनुयोगों में शामिल किए जा सकते थे, इससे अव्यवस्था उत्पन्न होती। अत: इस अव्यवस्था के भय से बचने के लिए अनुयोग खण्ड प्रदर्शित नहीं किये हैं।

चर्चाओं के अंत में 'निर्ग्रन्थस्वरूप माहात्म्य' दिया है। यह चर्चा वर्णन से उद्धृत है, जो कि बड़ा मंदिर जयपुर में विराजमान है। यह 6800 श्लोक प्रमाण में चर्चासंग्रह की तरह है, परंतु चर्चाकार का नाम नहीं दिया। यह भी रायमल्लजी का ही लगता है। यह अंश समन्वय वाणी में प्रकाशित कर चुके हैं। इतने अंश में पंडित श्री जगन्मोहनलालजी कटनी, बहुत प्रभावित हुए थे, और उस समय प्रकाशन हेतु प्रेरणा पत्र आया था। कालांतर में इस अंश के ज्ञानानंद श्रावकाचार में भी मिलने पर इसकी पुष्टि हुई। पाठकों के हेतु इसको अति उपयोगी जानकर प्रकाशित कर रहे हैं।

अंत में, सभी सहयोगियों के आभार के साथ प्रिय मित्र वीरसागर जी शोधछात्र के जिन्होंने प्रूफ में सहयोग तथा कवर पृष्ठ की डिजाइन बनाकर कला विज्ञता का परिचय दिया, उनके विशेष आभारी हैं। सभी के निर्ग्रंथता प्रगट हो-इस भावना के साथ-

आपका

डा० योगेश चन्द्र जैन

अनेकान्त फार्मा, अलीगंज (एटा) उ.प्र.

ॐ

चर्चा संग्रह

चुने हुए प्रश्नोत्तर

(१)

ॐ नमः सिद्धेभ्यः। अथ चर्चासंग्रह लिख्यते।

धर्म-धुरंधर आदि-जिन, आदि-धर्म करतार।
नमूं देव अघहरण तैं, सबविधि मंगलसार।।

अजित आदि पारस प्रभु, जयवंते जिनराय।
घाति चतुष्क कर्ममल, भये शुद्ध शिवराय।।

वर्धमान वरतों सदा, जिन-आज्ञा तुम सार।
इह उपगार सु तुम तणों, मैं आयो सुखकार।।

सिद्ध सुद्ध वंदूं सुबुधि, आनंदरूप अपार।
ज्ञानज्योति उज्ज्वल अचल, चेतन धातु अविकार।।

जिनमुख तैं उत्पन्न भई, स्याद्वाद सुखदैन।
आनंदधार अमोघ रस, भवि-जीवन सुख चैन।।

ज्ञानी ध्यानी नग्न मुनि, ध्यावै निज शिवरूप।
हंस अंस उज्ज्वल करै, आनंदरस मय कूप।।

जिनशासन वर्तो सदा, आनंद सुरस अपार।
दया-सुधा के हित ललित, भवि-जीवन सुखकार।।

मंगलकर जे अघ-हरण, हैं जिनके सब नाम।
निश-वासर सुमरूं सदा, सरै सवै निज काम।।

अथ, शास्त्र गोम्मटसार वा त्रिलोकसार वा लब्धिसार वा क्षपणासार के अनुसार और शास्त्र के अनुसार चर्चा लिखते हैं।

अत: हे भव्य! जिन-जिन पदार्थों का स्वरूप यथार्थ जाना जाये और पदार्थ का स्वरूप जानने से सम्यक्त्व की प्राप्ति होवे। तथा सम्यक्त्व की प्राप्ति सो शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति है। अत: यही बात उपादेय जानकर भव्य जीवों को चर्चा सिखलाना उचित है। बहुत क्या शिक्षा लिखें? अपने हित का इच्छुक पुरुष है, वह थोड़ा-सा ही उपदेश को पाकर शीघ्र ही अपने कार्य में उद्यमी होता है। जिसको अपना हित नहीं चाहिए, उसके लिए तो उपदेश ही नहीं है। अत: अब गति-इन्द्रियादिक की अनुक्रम से चर्चा लिखते हैं। सो वह जुदी-जुदी (तरह-तरह) चर्चा लिख रहे हैं।

ॐ नम: सिद्धेभ्य:। श्री जिनेश्वराय नम:।।

(२)

प्रश्न : श्री जिनेन्द्र देव की पूजा किस तरफ होकर और किस दिशा में मुख करके करें?

उत्तर : जिनेन्द्र देव की पूजा करते समय यदि प्रतिमाजी का मुख पूर्व दिशा की ओर हो तो पुजारी का मुख उत्तर दिशा में होना चाहिए। यदि श्रीजी (प्रतिमा) का मुख उत्तर दिशा की ओर हो तो पुजारी का मुख पूर्व दिशा में होना चाहिए। श्रीजी के सन्मुख खड़े होकर पूजा नहीं करनी चाहिए। यह कथन बड़े यत्नाचार में तथा उमास्वामी आचार्य ने कहा है, और अनुमान प्रमाण से भी इसी भाँति पूजन करना संभावित है। सन्मुख खड़े होकर पूजा करने से दर्शकजन दर्शन कैसे कर सकेंगे? उन्हें विघ्न-अन्तराय होगा। वे नमस्कार कैसे करेंगे? - पृष्ठ ३३२

(३)

प्रश्न : प्रतिमा जी की पूजा कितने प्रकार से है?

उत्तर : चार प्रकार से है। (१) स्नापन कहिये प्रक्षाल करना, (२) प्रतिमा के आगे द्रव्यक्षेपण करना, (३) स्तुति करना, (४) नमस्कार करना।

(४)

चर्चा : श्रीजी के दर्शन का फल।

श्रीजी के दर्शन करने का परिणाम होने पर सौ उपवास का फल लगता है, और चलकर गमन करने लगा तब लाख उपवास का फल होता है, और जिनमन्दिर में जाकर प्रवेश किया और श्रीजी के मुखारविन्द का अवलोकन किया, तब अनन्त कोड़ाकोड़ी उपवास का फल है-ऐसा दर्शन का फल जानकर आयुपर्यन्त दर्शन करना। दर्शन करके भोजन करना-इसका फल नियम से स्वर्ग-मोक्ष है। बहुत क्या कहें! जो अज्ञानी, आपघाती, महापापी ऐसा फल जानकर दर्शन नहीं करते हैं, तो वे मनुष्यरूप में तिर्यंच समान है। और कृतघ्नी हैं, अनन्त संसारी हैं, जगत में महानिंद्य हैं और उनका घर श्मशान समान है, और अधिक क्या लिखें! -पृष्ठ १९२

(५)

प्रश्न :- कोई जैन जिनदर्शन किये बिना भोजन करे तो वह कैसा है?

उत्तर :- प्रत्येक जैनमात्र को-जिनधर्मी को जिनदर्शन किये बिना भोजन करना उचित नहीं है। यदि कोई बिना जिनदर्शन किये भोजन करता है, तो वह भोजन अभक्ष्य समान है, और वह घर श्मशान समान है।

- पृष्ठ ३२०

(६)

चर्चा :- जिनमन्दिर में अन्दर भगवान की वेदी से पहले ही मार्ग में शास्त्रजी बँच रहा हो, और भक्तपुरुष जिनदर्शन को जाता हो तो मार्ग में ही चलते-चलते शास्त्र को शिरोनित करके आगे जावे। श्री जिनबिम्ब को विनय-पूर्वक-स्थिरतापूर्वक नमस्कार प्रदक्षिणा देकर वापस आकर शास्त्र को नमस्कार करके फिर वक्ता का यथायोग्य विनय करके शास्त्र सुनने को बैठे। ऐसा नहीं कि जिनदर्शन किये बिना ही मात्र शास्त्र को नमस्कार करके शास्त्र सुनने लग जावे, अथवा आकुलता से जिनदर्शन शीघ्र करके शास्त्र सुनने लग जावे।

यहाँ प्रश्न है कि – शास्त्र को छोड़कर आगे गया, तब शास्त्र का तो अविनय हुआ?

उससे कहते हैं कि बड़े का विनय पहले करना–इसमें छोटे का अविनय नहीं है। बड़े को छोड़कर छोटे को पहले विनय–सत्कार करने में बड़ा अविनय होता है। ऐसा ही प्रवर्तन समवशरण में भी होता है। इन्द्र, चक्रवर्ती आदि भक्त पुरुष समवशरण में जाकर प्रथम तीर्थंकर को नमस्कार करके बाद में मनुष्यों की सभा में गणधर को नमस्कार करके, तत्पश्चात् अन्य मुनि–आर्यिका को श्रावक–श्राविका को यथायोग्य नमस्कार विनय करके अपनी–अपनी सभा में तिष्ठते हैं। ऐसा अनेक पुराणों में प्रसिद्ध कथन है। – पृष्ठ ३५१

(७)

प्रश्न :– क्या स्त्री भी जिनेन्द्र का पूजन कर सकती है?

उत्तर :– पूजा तो मुख्यपने पुरुष ही करें और गौणपने स्त्री भी करें। स्त्री भी स्नान करके कंचुकी सहित धुले हुए उज्ज्वल वस्त्र पहिनकर प्रक्षाल किये बिना, मात्र पूजा करे। इसी तरह नपुंसक भी पूजा कर सकता है।

–पृष्ठ ३१७

(८)

प्रश्न :– मुनि महाराज के कोई अज्ञानी पुरुष चन्दन लगा दे अथवा वस्त्राभूषण पहना दे, तो वे मुनिराज उस समय पूज्य हैं कि नहीं? अथवा प्रतिमाजी के चन्दन लगा दे, केशर लगा दे तो उस समय वह प्रतिमाजी पूज्य–वन्दनायोग्य हैं कि नहीं?

उत्तर :– मुनिराज तो पूजनेयोग्य–वन्दना करनेयोग्य हैं, और प्रतिमाजी पूज्य–वन्दनीय नहीं हैं, उसे विस्तार से कहते हैं।

जैसे एक अकृत्रिम स्वयं राजा और दूसरा चित्राम–काष्ठादि का कृत्रिम राजा हो तो अकृत्रिम राजा तो अपने आप ही राज–काज के गुणों से युक्त होता है, सेवकों के द्वारा वे गुण उसे नहीं प्राप्त हुये हैं। यदि उसमें

पराक्रमादि राजगुणों का अभाव हो जाये तो उसका राजापना ही नष्ट हो जाये और राजपद योग्य गुणों से अलंकृत होने पर ही राजपदवी योग्य है। इसके विपरीत कृत्रिम राजा का आकार सेवकों को बनाया हुआ है। यदि अपने सेवक अपने स्वामी सदृश आकार बनावें तो वैसा ही बनने पर राजा प्रसन्न हो, और इसके विरुद्ध यदि किसी अन्य राजा जैसा आकार बनावे तो वैसा बने परन्तु मूल राजा अतिकोप करे। इसी प्रकार मुनिराज अथवा साक्षात् केवली भगवान तो अकृत्रिम गुरु अथवा देव हैं, सो वे तो रत्नत्रययुक्त विराजमान हैं, जब उनका रत्नत्रयगुण जावे-नष्ट होवे, तब उनके गुण में कसर पड़े, परन्तु वह तो स्वाधीन है, किसी का खोया गुण जाता नहीं, अर्थात् किसी के द्वारा नाश करने से नाश होता नहीं-अत: पूज्य ही है।

प्रतिमाजी तो कृत्रिम देव हैं तथा सेवकों द्वारा निर्मित है, इसलिए अरिहन्त सदृश जिनबिम्ब निर्माण करते हैं, तो वैसे बनते हैं। यदि कोई पुरुष अन्य देव जैसा उनका आकार बनाता है, तो वैसे बनते हैं। यदि कोई पुरुष अन्य देव जैसा उनका आकार बनाता है, तो बनावे, परन्तु वह पूज्य नहीं है। अत: प्रतिमाजी के चन्दन अथवा केशर का लेप करने पर सरागीदेव जैसी दशा हो गई-ऐसी दशा में वे प्रतिमा पूज्य कैसे मानी जावे? इसलिए प्रतिमाजी निरावरण ही सर्वप्रकार पूज्य है, इसमें सन्देह नहीं। तथा पूर्व दिशा में लगाकर जैनबद्री पर्यन्त एक निरावरण का ही चलन है। दक्षिण दिशा की तरफ जैनी राजा और जैनी प्रजा अब भी पाई जाती है, इसलिए निरावरण की प्रवृत्ति पूर्व से चली आ रही है और इस देश में काल देखकर धर्म की न्यूनता विशेष हुई और मिथ्यात्व का चलन प्रबल-प्रचुर हुआ इसलिए भेषियों ने प्रतिमाजी को तो सराग किया, और भैरों-भवानी आदि कुदेवों को जिनमन्दिर में स्थापित किया, श्रद्धानी पुरुष का आना मना किया। **उन भेषियों ने ऐसा विचार किया कि यदि श्रद्धानी पुरुष यहाँ आयेगा, तो हमारे अवगुण को प्रकाशित करेगा, तब भला हमें कौन मानेगा?** अत: ऐसा उपाय करना चाहिए, जिससे श्रद्धानी पुरुष का आना यहाँ न हो सके।

इसी दृष्टिकोण से प्रतिमाजी को चन्दनादि लगाकर सरागी कर दिया, जिससे श्रद्धानी पुरुष यहाँ आवे ही नहीं और हम मनमानी करते रहें–ऐसा तात्पर्य जानना। – पृष्ठ ३०४

(९)

प्रश्न :– मौन किस समय रखना चाहिए।

उत्तर :– (१) देवपूजा के समय, (२) षड् आवश्यक में (३) भोजन के समय (४) स्नान के समय (५) कुशील (विषय सेवन) के समय (६) तथा दीर्घ निहार (७) लघु निहार के समय। इन सात जगह मौन रहना उचित है। – पृष्ठ ५३

(१०)

चर्चा :– हवेली में प्रतिमा जी यव–प्रमाण से लगाकर २२ अंगुल तक की विराजमान करना, बड़ी न करना।

भावार्थ :– बड़े बिम्ब का विनय विशेष होता है। अत: बड़े बिम्ब का विनय हवेली में गृहस्थ से नहीं बन सकता–ऐसे ही शास्त्र जी का विनय जानना। प्रथम तो द्वादशांग का विनय अत्यन्त है, उससे उतरते–उतरते और छोटी–छोटी पुस्तकों का है। उसमें भी सिद्धान्तग्रन्थ–तत्त्वज्ञान की चर्चा का जो महाविनय है, सो प्रत्यक्ष दिखता है। दक्षिण देश में जैनबद्री नामक नगर में धवल–जयधवल–महाधवल ग्रन्थ विराजते हैं–उनकी तो यात्रा जुड़ती है, और इधर देश में गोम्मटसार, त्रिलोकसारजी का अत्यन्त विनय है, उससे उतरता द्रव्यानुयोग का, उससे उतरता चरणानुयोग का, उससे उतरता पोथी इत्यादि का जानना। एक वस्तु में भी विनय घट–बढ़ होती है, उत्तम अंग की अधिक और हीन अंग की कम है। चैत्यालय का या पुरुष का इत्यादि सर्वत्र जान लेना। – पृष्ठ ३२९

(११)

प्रश्न :– सर्प, श्वान, चाण्डालादि अनेक अज्ञानी जीव जिनवाणी अथवा नमस्कार मंत्र सुनकर स्वर्गादि उच्च गति को प्राप्त हुए हैं। उन्हें ऐसा

कोई ज्ञान तो था नहीं, जिससे नमस्कार मंत्रादि का अवबोध हो सके, फिर बिना अवबोध हुए स्वर्गादि में कैसे गये?

उत्तर :– जानपने से तो उच्च गति होती नहीं। उच्च गति तो एक मंद-कषाय होने से प्राप्त होती है, सो जिनवाणी का अतिशय ऐसा ही है कि जो जीव जिनवचन सुने, उसका परिणाम उपशान्त होवे ही होवे–यह नियम है।

जैसे निमित्त मिले, वैसा कार्य सिद्ध हो। बालक या तिर्यंच को कषायीपुरुष का निमित्त मिले तो वह भी कषायरूप परिणमे, और निष्कषाय का मिले तो निष्कषायरूप परिणमे–यह प्रत्यक्ष अनुभव में आता है। एक वर्ष के बालक को, तिर्यंच को भी कषाय का कारण पाकर कषाय उत्पन्न होती है, और निष्कषाय का कारण पाकर निष्कषायभाव होता है, तो फिर बड़े जीव को तो होवे ही होवे। यदि कोई पुरुष निष्कषाय भाव से उसको बुरा भी कहे तो हँसने लग जाए, और कषाय से मीठा भी बोले तो रोने लग जाये। तथा **वनादिक में मुनिमहाराज तिष्ठें, सो उनकी शान्त मुद्रा देखकर उनकी अमृतमयी वाणी सुनकर तिर्यंच सिंह, व्याघ्रादि, क्रूर जानवर शान्त परिणाम होकर मुनि के निकट जाकर नम्रीभूत होते हैं और मुनि की शान्तमुद्रा उन्हें अतिप्रिय लगती है।** अत: कोई द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव तो निष्कषाय का कारण है और कोई कषाय का कारण है–ऐसा ही अनादि-निधन सहज निमित्त-नैमित्तिक स्वभाव बना है, सो संसारावस्था में प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर होता है–वही दिखलाते हैं।

प्रतिमाजी, तीर्थंकर, केवली, मुनिराज, श्रावक, धर्मात्मा अविरत सम्यग्दृष्टि आदि द्रव्य तो निष्कषायभाव के कारण है, तथा ऐसे ही पंच कल्याणक का क्षेत्र, जिनमंदिर का क्षेत्र आदि धर्मस्थान के क्षेत्र, तथा अष्टमी, चतुर्दशी, सोलहकारण, दशलक्षण, रत्नत्रय, अष्टाह्निका इत्यादि धर्मपर्व के काल, तथा अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, निष्कषाय, इन्द्रियनिरोध, दान, तप, शील, संयम, भेदविज्ञान, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, ध्यान पर्यन्त भाव–ऐसे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव चतुष्टय निष्कषाय के कारण हैं। इनका निमित्त पाकर निष्कषायभाव होवे ही होवे, इसलिए इनका कारण अवश्य मिलावे।

तथा कोई चतुष्टय कषाय का कारण है – वही कहते हैं। कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र, कषायी–असंयमी पुरुष, क्रूर जानवर आदि खोटे द्रव्य और कुतीर्थ, घर, हवेली, बाजार आदि क्षेत्र, होली आदि पापपर्व के काल और हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, रोग, द्वेष, मोह, असंयम, अव्रतादिभाव, यह चारों कषाय के कारण हैं। अतः नमस्कार मंत्र सुनने से, जिनबिम्ब के दर्शन से अज्ञानी जीव भी मन्दकषायरूप परिणमता है, इसलिए स्वर्गादिक उच्च–गति का बन्ध करके उच्च पद पाता है – ऐसा भावार्थ जानना। – पृष्ठ २९८

(१२)

चर्चा :– श्री जिनमन्दिर अथवा निर्ग्रन्थरूप मुनिराज मार्ग में आ जावें तो दर्शन किये बिना आगे नहीं जाना चाहिए। यदि चला जाए तो अविनय होती है, और अविनय का अधिक पाप होता है। अतः अवश्य दर्शन करके जाना योग्य है, और उधर यदि **कुलिंगी रहता हो तो कदापि जाना नहीं चाहिए, जहाँ कुलिंगी रहे, वहाँ 'श्री' जी का अविनय होता ही होता है,** और अविनय कैसे देखा जावे–जैसे अपने माता–पिता का कोई अविनय करता हो, और अपनी सामर्थ्य हो तो अविनय मिटा दे, और सामर्थ्य न हो तो टलकर निकल जावे, वैसे ही अपनी सामर्थ्य न हो तो टलकर निकल जावे और अविनय के स्थान पर जावे नहीं, क्योंकि वहाँ जाने से श्रद्धा–रत्न छिन जाएगा। – पृष्ठ ३०६

(१३)

प्रश्न :– मुनिराज जिन मन्दिर में आकर जिनबिम्ब को किस प्रकार नमस्कार करें?

उत्तर :– जिन मन्दिर के बाहर उष्ण प्रासुक पानी से दोनों हाथ–पैर धोकर मन्दिर में महान हर्षायमान होकर प्रवेश करें। पश्चात् जय–जय शब्द करके नारियलवत् हस्तयुगल जोड़कर फिर तीन आवर्त करके शिरोनति करें। फिर भूमि से मस्तक लगाकर नमस्कार करें। पश्चात् खड़े होकर विनयपूर्वक ईर्यासमिति सहित हस्त जोड़कर तीन प्रदक्षिणा देवें, और एक

दिशा तरफ एक-एक प्रदक्षिणा में तीन-तीन आवर्त-एक शिरोनति (शिरोवृत्ति) करें। फिर तीन प्रदक्षिणा देने के बाद प्रतिमाजी के सन्मुख आकर शिरोनति करके महाहर्षायमान होकर स्तुति करें। उस स्तुति में तीन प्रकार के प्रयोजन सिद्ध होते हैं। (१) भगवान के गुणों की महिमा, (२) अपनी निन्दा, (३) प्रार्थना। इन भावों सहित परिणाम सन्मुख रहें, तब तक स्तुति करें-स्तुति करने में ऐसी अनुमोदना आवे-ऐसा आनन्द आवे कि जिसके माहात्म्य से पापकलंक अश्रुपात के बहाने नेत्रद्वार से निस्सरित हो जावे।

भावार्थ :– जिनदेव से अपने जिनबिम्ब से वीतराग मुनियों को भी ऐसा अनुराग है, तो सरागी धर्मात्मा गृहस्थ के क्यों अनुराग न हो-होवे ही होवे-होना ही चाहिए-ऐसा जानना। – पृष्ठ २७८

(१४)

चर्चा :– इतने स्थानों में परिणामों की विशुद्धता अनन्त-अनन्त गुनी होती है - (१) तीर्थयात्रा (२) पूजा (३) स्तोत्र पाठ (४) सामायिक (५) पुराणों का श्रवण (६) श्रावकाचार, यत्याचार को सुनना (७) करणानुयोग का सीखना (८) द्रव्यानुयोग का स्वरूप जानना (९) चर्चा का धारण (१०) चर्चा का विचार (११) सप्ततत्त्व का विचार (१२) कायोत्सर्ग (१३) ध्यान - ऐसा अनुक्रम जानना। –पृष्ठ २४९

(१५)

प्रश्न :– ध्यान के पाँच हेतु कौन-कौन से हैं?

उत्तर :– वैराग्य, तत्त्वज्ञान, निर्ग्रन्थता, मन की स्थिरता तथा परीषह का जय। यह पाँच भाव जिस पुरुष में हों, वही ध्यान करने के योग्य है। सो यह मुनि की जानना और किंचित् मात्र अविरत सम्यग्दृष्टि तथा देशव्रती भी ध्यान रखने की पात्रता रखते हैं। –पृष्ठ ५४

(१६)

प्रश्न :– श्री प्रतिमाजी, लाखों-करोड़ों रुपया खर्च किये-अनेक

विधि-विधान किये, अनेक गृहस्थाचार्य मिलें-ग्राम के तथा बाहर के हजारों लोग भोजन करें-इत्यादि महाकठिन क्रिया करके निर्मापित की गई हो, वही पूज्य कही गई है – अन्य को पूज्यता नहीं है, उसका कारण क्या है?

उत्तर :– संसार में महँगी वस्तु से प्रीति विशेष होती है, और विशेष कष्ट से जो वस्तु उत्पन्न हो वही महँगी बिकती है, सो प्रत्यक्ष देखते हैं, जल में गुण तो हीरा-माणिक्य से भी अधिक दिखते हैं, परन्तु हीरा-माणिक्य महाकष्टपूर्वक दूर-देशान्तर से आते हैं, इसलिए उनसे प्रीति विशेष है, और जल की उत्पत्ति सुगम है, इस कारण बिना मोल मिलता है, इसलिए उससे प्रीति तुच्छ है। इसी तरह प्रतिमाजी कारीगर-शिल्प की बनाई हुई ही पूज्य होती तो पानी की तरह अनादर होता; तब अनादर रूप अविनय से पुण्य के स्थान पर अकेला महापाप होगा। इस कारण से विशेष अतिशय से निर्मापित-प्रतिष्ठित प्रतिमाजी का पूजन महाफलदायक है। उसमें भी जैसे-जैसे बहुत महिमा बढ़ावे, वैसे-वैसे फल अनन्त-अनन्त गुना बढ़ता जाय, इसलिए चमर, छत्र, सिंहासन, आदि विशेष विनय करना। विनय के बिना मंत्र-यंत्र-तंत्र चिंतामणि आदि अचेतनवस्तु भी फलदाई नहीं होती, तो तीन लोक के नाथ फलदायी कैसे हों? सो वर्तमान में कलिकाल के दोष से मूर्ख-मूढ़बुद्धि प्रतिमाजी की विनय तो अंशमात्र करते नहीं और अज्ञानतावश कुदेवादिक का पद्मावती-भैरों-क्षेत्रपालादिक का विनय विशेष-विशेष करते हैं, सो ऐसे पापी जीव अनन्त संसार में निश्चय से/नियम से डूबेंगे-ऐसा जानना। – पृष्ठ ३९४

(१७)

प्रश्न :– कौनसी प्रतिमाजी वन्दनीय है और कौनसी नहीं?

उत्तर :– प्रतिमाजी ऊंगली, नख आदि कितने ही चिन्हों से खण्डित हो तो भी वन्दनीय है। मस्तकादि अंग-रहित वन्दनीय नहीं है। मस्तक रहित प्रतिमाजी को गहरे जल में पधार देना चाहिए, तथा बिना प्रतिष्ठा की

हुई प्रतिमाजी को यदि सौ वर्ष आदि घना काल बीत चुका हो, तो वह वन्दनीय हो जाती है–ऐसा धर्मसंग्रह श्रावकाचार में लिखा है।

–पृष्ठ ६९

(१८)

प्रश्न :– धर्मकार्य में अथवा कर्मकार्य में सर्वत्र तीन–तीन ही क्रियायें कहीं, अधिक–हीन नहीं–ऐसा क्यों?

उत्तर :– सर्व कार्यों में जघन्य, मध्यम, उत्कृष्टपना है। जघन्य कार्य में एक ही बार क्रिया करनी, मध्यम में दो बार और उत्कृष्ट में तीन बार क्रिया करनी। वही कहते हैं – जय–जय शब्द गुरु आदि के प्रति तीन बार उच्चारण करें, तीन ही प्रदक्षिणा देवें, तीन ही आवर्ति करें, तीन ही बार मंत्र पढ़कर अतदाकार देवादिक की स्थापना करे हैं। सो यह सर्वोत्कृष्ट है, तातैं सर्वोत्कृष्ट विनय करते हैं। ऐसे ही धर्मकार्य में अथवा पापकार्य में जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट क्रिया करने का प्रयोजन जानना। धर्म में उत्कृष्ट क्रिया करने से उत्कृष्ट फल और (जघन्य क्रिया करने से) जघन्य फल होता है–ऐसे ही पाप क्रिया में भी जानना। – पृष्ठ २९४

(१९)

चर्चा :– एक हजार अतिशयवान मिथ्यादृष्टि के समान एक जैनाभास, एक हजार जैनाभास समान एक सम्यग्दृष्टि, एक हजार सम्यग्दृष्टि समान एक अणुव्रती, एक हजार अणुव्रती समान के एक सकलव्रती मुनि, एक हजार मुनि समान एक सामान्य केवली, एक हजार सामान्य केवली के समान एक तीर्थंकर केवली, एक हजार तीर्थंकर केवली के समान एक जिनस्थावर प्रतिमा के अतिशय रूप दर्शन का फल जानना।

–पृष्ठ ३५२

(२०)

प्रश्न :– केवली भगवान समवसरण में किस आसन से तिष्ठते और किससे मोक्ष जाते हैं?

उत्तर :– समवसरण में तो नियम से पद्मासन ही तिष्ठते हैं। जिस आसन से केवलज्ञान उत्पन्न हो उसी आसन से मोक्ष जावें अन्यथा अन्य से भी जावें – नियम कोई नहीं। – पृष्ठ ६५

(२१)

प्रश्न :– सामान्य केवली कैसे तिष्ठते हैं और कैसे गमन करते हैं?

उत्तर :– सामान्य केवली भी तीर्थंकर केवली के समान आकाश में अन्तरीक्ष तिष्ठते हैं, और अन्तरीक्ष ही डग भरते हुए संसारी मनुष्य की तरह गमन करते हैं। यह कथन आदिपुराण के अन्त में भरतजी के केवलज्ञान दशा के वर्णन में कहा है। – पृष्ठ ३१९

(२२)

चर्चा :– तीर्थंकर केवली तो पद्मासन और कायोत्सर्ग – इन दो ही आसनों से मोक्ष जाते हैं। तथा अन्य सामान्य–केवली अपने आसनों से जाते हैं, फिर वैसा ही आकार आत्मा का सिद्धक्षेत्र में रहता है। इसकी साक्षी उपसर्ग केवली की अपेक्षा प्रत्यक्ष मिलती है, क्योंकि उपसर्ग अवस्था में किसी भी आसन में केवलज्ञान होकर तुरन्त मोक्ष चले जाते हैं – ऐसा सिद्धान्तसार में कहा है। – पृष्ठ ६८

(२३)

चर्चा :– तीर्थंकर के विहार का वर्णन –

समवशरण में विराजमान होते हुए जब नामकर्म के उदय से बिना इच्छा स्वयमेव अरहंत–देव के विहार करने का काल होता है, तब इन्द्र अवधिज्ञान से जानकर लोक–रीति साधन के अर्थ इस प्रकार विनती करता है कि प्रभो! यह विहार का समय है, अत: विहार करके अनेक भव्य जीवों का उपकार कीजिये। फिर उसके अनन्तर भगवान तो विहार करते हैं, और वहाँ समवशरण रचना विघट (नष्ट) जाती है।

पुनश्च, भगवान जिस मार्ग में विहार करते हैं, उस मार्ग के दोनों तरफ नाना–प्रकार के छहों ऋतु सम्बन्धी फल–फूल से युक्त उत्तम वृक्षों की

पंक्ति व धान्य के खेत आदि हो जाते हैं। और बावड़ी कुंड आदि अनेक रमणीक स्थान जहाँ-तहाँ होते जाते हैं। और उस मार्ग की भूमि आरसा (दर्पण) समान अति उज्ज्वल होती जाती है।

पुनश्च, उस मार्ग में आकाश से मेघकुमार देव छोटी-छोटी बूंदों के जल से वर्षा करते जाते हैं, और पवनकुमार देव मन्द-सुगन्ध पवन चलाते हैं, और योजन पर्यन्त पृथ्वी में कोई कंटक आदि नहीं रहने देते। पुनश्च, योजनपर्यन्त हो भगवान विहार करते हैं, इसीलिए दोनों तरफ कोट का प्रमाण एक योजन लम्बा है। और दोनों कोटा के बीच वीथिका अर्थात् मार्ग आधा योजन चौड़ी है, और दोनों तरफ नदी बहती है, दोनों तरफ शालिका के खेत व हरियाली व दो भवावन वारत नाम के पर्वत बार अन्नमयी बावडी व अन्नमयी सरोवर व मंदिर, इस प्रकार दोनों तरफ अनेक प्रकार की रचना बनती है। पुनश्च, उस मार्ग में भगवान तो आकाश में समवशरण की ऊंचाई प्रमाण धरती से ऊँचा गमन करते हैं, उनके पादकमल के तले पन्द्रह-पन्द्रह दोय से पच्चीस-पच्चीस कमलों का पुंज, देव, आकाश में रचता जाता है।

भावार्थ :- पन्द्रह-पन्द्रह कमलों की एक-एक पंक्ति ऐसी पन्द्रह पंक्ति उसकी भूमिका उसके कमल दोय सो पच्चीस हुआ। उसके बीच कमल, ऊपर भगवानजी अन्तरीक्ष मनुष्य की तरफ डग भरते विहार करते हैं।

कोई ऐसा जानेगा कि भगवान के तो इच्छा नहीं, बिना इच्छा के कैसे डग भरते, कैसे उठते-बैठते हैं?

उत्तर :- भगवानजी के इच्छा नहीं होती-यह तो सत्य है, परन्तु भगवान के शरीरादि चार अघातिया कर्म बैठा है, उसके निमित्त से मन-वचन-काय योग पाया जाता है, उससे ही भगवान के मन के प्रदेशों का चंचलपना व वाणी का खिरना व शरीर का उठना-बैठना व कद-भरना सम्भव है। इसमें दोष नहीं है। ग्रन्थों में भी कहा है।

पुनश्च, मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका व मनुष्य व तिर्यञ्च भूमि में भगवान के निकट वा दूर गमन करते हैं।

भावार्थ :– इन्द्रादिक कई देव जिनभक्त हैं व भगवान के समीप भगवान की सेवा करते जाते हैं, और देवों के वृन्द अर्थात् समूह वे भगवान से दूर चलते हैं और कई देव चौकीदार की तरह हाथ में रत्नमयी छड़ी व चातुर्जि इत्यादि रक्षा निमित्त विनय संयुक्त देव, अठि–उठि (इधर–उधर–व्यवस्था) करते चलते हैं। कई देव स्तुति करते चलते हैं, कई देव कौतूहल करते जाते हैं। इसी प्रकार मनुष्य–तिर्यञ्च महा–आनन्द से भूमि में गमन करते हैं और भगवान का गुणानुवाद स्मरण करते जाते हैं। तथा भगवान ऊर्ध्व दिशा से चलते जाते हैं। इस प्रकार अनेक मांगलिक कार्य विहार–समय बनते हैं। उसका वर्णन करने को हम समर्थ नहीं हैं। तथा आगे इन्द्रादिक देव पहले की तरह रचना रचते हैं, उसमें भगवानजी जाकर स्थिर हो जाते हैं। ऐसा विहार का वर्णन जानना।

– पृष्ठ २१७ से २१९

(२४)

चर्चा :– दो इन्द्रिय से लगाकर असैनी पर्यन्त के अनक्षररूप अनुभव भाषा है। सामान्य अथवा तीर्थंकर केवली की वाणी अनक्षररूप है। छद्मस्थ जीवों के कानों में जब तक नहीं पड़ती तब तक अनक्षररूप ही रहती है। इसी कारण केवली का वचन अनुभय रूप कहा और बाद में कानों के निकटवर्ती पुद्गल वर्गणायें अक्षर रूप शब्दाकार परिणमती हैं, और सत्य परिणमती हैं, इसलिए सत्यभाषा केवली के कही है। सामान्य केवली की दिव्यध्वनि भी अनक्षररूप जानना। यह कथन गोम्मटसारजी के जीवकाण्ड के योगमार्गणा में कहा है। – पृष्ठ ३०८

(२५)

प्रश्न :– सभी तीर्थंकरों के समवशरण का परिमाण समान ही होता है या कुछ कम–बढ़ भी होता है।

उत्तर :– त्रिलोकप्रज्ञप्ति, धर्म–संग्रह तथा समवशरण स्तोत्रादिक में लिखा है कि आदिनाथजी का समवशरण बारह योजनप्रमाण भूमि में था,

तथा घटता-घटता महावीरजी का एक योजनप्रमाण रह गया। अब अवसर्पिणी काल में घटता-घटता जिस प्रकार चलता है, उसी प्रकार उत्सर्पिणीकाल में प्रथम तीर्थंकर से लगाकर अंतिम तक बढ़ता-बढ़ता चलता है। परन्तु इस रचना प्रमाण का वर्णन कोई-कोई आचार्य अन्य प्रकार भी करते हैं।

जैसे सर्व तीर्थंकरों के समवशरण का प्रमाण बारह योजन ही होता है, अर्थात् समान होता है-ऐसा कहते हैं। सो हमारी बुद्धि में सत्यासत्य निर्णय करने की शक्ति नहीं है; अत: केवली भगवान ने जो देखा है, वही प्रमाण है। -पृष्ठ २१५

(२६)

प्रश्न :- समवशरण में कितने प्रकार के बाजे बजते हैं?

उत्तर :- साढ़े बारह करोड़ जाति के बाजे बजते हैं। ऐसा पार्श्वनाथ पुराण में कहा है। - पृष्ठ २८८

(२७)

प्रश्न :- प्रतिमा जी की पूजा कितने प्रकार से है?

उत्तर :- चार प्रकार से है। (१) स्नापन कहिये-प्रक्षाल करना, (२) प्रतिमा के आगे द्रव्यक्षेपण करना, (३) स्तुति करना, (४) नमस्कार करना।

(२८)

प्रश्न :- श्री तीर्थंकर भगवान सामायिक अथवा प्रतिक्रमण क्रिया करते हैं कि नहीं? तथा केवलज्ञान होने पर समवशरण कितना ऊँचा होता है?

उत्तर :- श्री तीर्थंकर भगवान सामायिक अथवा प्रतिक्रमण क्रिया नहीं करते। और केवलज्ञान होते ही भूमि से ढाई कोस ऊँचे हो जाते हैं, इतना ही समवशरण भी पृथ्वी से ऊँचा रहता है-यह पार्श्वनाथपुराण में समवशरण के कथन में कहा है।

-पृष्ठ २३४

(२९)

चर्चा :– तीर्थंकरों के शरीर की ऊँचाई क्रमशः यह है –

प्रथम तीर्थंकर ५०० हाथ (२) ४५० (३) ४०० (४) ३५० (५) ३०० (६) २५० (७) २०० (८) १५० (९) १०० (१०) ९० (११) ८० (१२) ७० (१३) ६० (१४) ५० (१५) ४५ (१६) ४० (१७) ३५ (१८) ३० (१९) २५ (२०) २० (२१) १५ (२२) १० (२३) ९ हाथ तथा २४वें की ७ हाथ जानना। – पृष्ठ ४९

(३०)

प्रश्न :– प्रत्येक तीर्थंकर के पाँच ही कल्याणक होने का नियम है या किसी के कम–बढ़ भी होते हैं?

उत्तर :– भरत–ऐरावत के दश क्षेत्रों में तीर्थंकरों के पाँच–पाँच ही कल्याणक होते हैं।

भावार्थ :– यहाँ के तीर्थंकरों के तो तीर्थंकर–प्रकृति का बन्ध पूर्वपर्याय में ही होता है – यह नियम है। तथा विदेहों में १६० तीर्थंकर होते हैं, सो पूर्वभव में तीर्थंकर–प्रकृति का बन्ध करनेवाले के तो भरत–ऐरावत के समान पाँच ही कल्याणक होते हैं और यदि उसी भव की गृहस्थ–पर्याय में तीर्थंकर–प्रकृति का बन्ध किया तो, उनके गर्भ–जन्म बिना तीन कल्याणक और यदि मुनि अवस्था में बन्ध किया तो, उनके केवलज्ञान और निर्वाण दो ही कल्याणक होते हैं – यह नियम है। – पृष्ठ ३०३

(३१)

चर्चा :– भगवान के पंच कल्याणक में पंचाश्चर्य होते हैं। सो सर्वार्थसिद्धि के देव अहमिन्द्र तो वहाँ से ही नमस्कार करते हैं, दोनों हाथ मस्तक से लगाकर बहुत विनय से नमते हैं और पूजन करते हैं, यहाँ मध्यलोक में आते नहीं हैं, अवधिज्ञान से उधर ही बैठे प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं। तथा प्रथम से लगाकर सोलहवें स्वर्ग तक के देव तो यहाँ आते ही हैं। – पृष्ठ २८८

(३२)

प्रश्न :– स्वर्गों में, समवशरण में, तथा नरकों में विकलत्रय जीव तो हैं नहीं, तथा स्वर्गों को वापिका, कुण्डवापिका आदि में दरियाव, सरोवर अथवा वनादिक में पक्षी, ऐसे ही समवशरण में जलचर जीव, तथा इसी प्रकार नरक में वैतरणी नदी में लट आदि जीव शास्त्रों में कहे हैं–वे कौन हैं?

उत्तर :– वहाँ अचेतन त्रस जीवों के आकार पुद्‌गल परिणमा है, जैसे पुरुषाकार अकृत्रिम जिनबिम्ब परिणमा है, वैसे ही यह भी जानना। वास्तव में उपर्युक्त तीनों स्थानों में विकलत्रय जीव नहीं होते। – पृष्ठ १६

(३३)

प्रश्न :– प्रथम स्वर्ग के इन्द्र में, सर्वार्थसिद्धि के देवों में, तीर्थंकर में और बललब्धि ऋद्धिधारी मुनियों में शक्ति कितनी है?

उत्तर :– प्रथम स्वर्ग के इन्द्र में जम्बूद्वीप पलटने की, सर्वार्थसिद्धि के देवों में तीन लोक उठा लेने की सामर्थ्य है, परन्तु ऐसी कषाय नहीं है, इसलिए ऐसी बुद्धि नहीं उपजती। तीर्थंकर भगवान और बललब्धि ऋद्धिधारी मुनियों में तीन लोक उठा लेने की शक्ति से भी अनन्त गुनी शक्ति होती है, किन्तु उठाते नहीं है। ऐसा क्यों? वास्तव में तो अकृत्रिम–वस्तु चलाने से कहीं चल नहीं सकती, अथवा उनके ऐसी संक्लेशरूप कषाय नहीं होती, अत: ऐसी शक्ति ही जानना। – पृष्ठ ६२

(३४)

प्रश्न :– तीर्थंकर महाराज के बल–वीर्य की क्या कोई उपमा भी हो सकती है?

उत्तर :– हाँ, सुनिये। १२ मल्ल का बल एक साँड में होता है – १० साँड का बल एक भैंसा में – १० भैंसा का बल एक घोड़ा में – १००० घोड़ा का बल एक हाथी में – ५०० हाथी का बल एक नाहर में – ५०० नाहर का बल एक शार्दूल में – १००० शार्दूल का बल एक

अष्टापद में – १००० अष्टापद का बल एक कामदेव में – २ कामदेव का बल एक नारायण में – ९ नारायण का बल एक चक्रवर्ती में – १० लाख चक्रवर्ती का बल एक व्यन्तर में – १० लाख व्यन्तर-देवों का बल एक इन्द्र में होता है। इन सब का बल इकट्ठा करे तो श्री तीर्थंकर महाराज के बल के समक्ष समयमात्र भी टिके नहीं। – पृष्ठ ३४०

(३५)

चर्चा :– श्री तीर्थंकर महाराज के अंगुष्ठ में इन्द्र महाराज अमृत पूर (भर) देते हैं। उसको चूस-चूसकर वह पुष्ट होते हैं।

– पृष्ठ ३०५

(३६)

चर्चा :– तीर्थंकर के जन्म-कल्याण में क्षीरसमुद्र का जल तो मुख्यपने लाया ही जाता है, किन्तु स्वयंभूरमण समुद्र पर्यन्त का जल भी देव अति अनुराग के वश होकर लाते हैं।

भावार्थ :– देव एक अन्तर्मुहूर्त काल में स्थूल शरीर जो वैक्रियकता होते (के कारण) असंख्यात योजन आता-जाता है; तो फिर सूक्ष्म शरीर से तो आवें-जावें ही – यह कथन आदिपुराणजी में कहा है।

– पृष्ठ २९४-२९५

(३७)

चर्चा :– चौबीसों तीर्थंकर भावों सहित देशव्रत गृहस्थावस्था में आठ वर्ष की आयु में ग्रहण करते हैं – यह कथन उत्तरपुराणजी में कहा है।

– पृष्ठ २८८

(३८)

चर्चा :– नेमिनाथ तीर्थंकर ५६ दिन तक छद्मस्थ रहे। तथा सर्व ही तीर्थंकरों का समवशरण धरती से ढाई कोस ऊँचा गगन में तिष्ठता है; और सर्व ही के बीस-बीस हजार सीढ़ियाँ होती हैं। यह प्रमाण घट-बढ़ नहीं होता। नेमिनाथ ने प्रथम तेला उपवास किया। – पृष्ठ ३२९

(३९)

प्रश्न :– सर्व तीर्थंकरों के चार प्रकार के संघ का प्रमाण शास्त्रों में कहा है, सो किस अपेक्षा से कहा है? केवलज्ञान की सर्व आयु पर्यंत की अपेक्षा लें; अथवा सारे क्षेत्र की अपेक्षा लें? यह संभव भी नहीं और दोष वर्जित भी नहीं है।

उत्तर :– तीर्थंकर की केवलपर्याय में सर्वकाल किसी भी दिन के बीच में सबसे अधिक संख्या हो, उसकी अपेक्षा प्रमाण लिया है – ऐसा सर्वत्र जानना। – पृष्ठ २९५

(४०)

प्रश्न :– तीर्थंकर केवली, देव, जुगलिया और नारकी के शरीर का आयु के अन्त में क्या होता है?

उत्तर :– श्री तीर्थंकर केवली, देव तथा जुगलिया, इन तीन जाति का शरीर आयु के अन्त में मरण समय कपूर के समान उड़ जाता है, खिर जाता है; और नारकी का बादलों की तरह विलीन हो जाता है अथवा गल जाता है, विघट जाता है। तिर्यंच अथवा मनुष्य का शरीर पड़ा रहता है। – पृष्ठ ३०३

(४१)

चर्चा :– सामान्य केवली का भी शरीर मोक्ष पधारने के पश्चात् पड़ा रहता है। लघु पद्मपुराण में दो-तीन जगह कहा है। एक तो कीर्तिधर राजा का पुत्र सुकौशल मुनि हुए, उनकी माता उन्हीं के वियोग से मृत्यु को प्राप्त हुई। पश्चात् मरकर नाहरी होकर उन्हीं का शरीर भक्षण किया। बाद में शरीर का कुछ भाग पड़ा रहा, उसको देवों ने केवली का शरीर जानकर पूजा। इसी प्रकार और भी शरीर केवली के मोक्ष पधारने के पश्चात् पूजे गये हैं। – पृष्ठ २८८

(४२)

प्रश्न :– तीर्थंकरों के साथ हजारों जीव एक काल में मोक्ष गए, सो

कैसे संभव है, क्योंकि एक समय में एक सौ आठ जीवों से अधिक मोक्ष जा नहीं सकते?

उत्तर :– जिस समय तीर्थंकर मोक्ष पधारे, उस समय में तीर्थंकर के साथ जो मुनि अथवा केवली थे, उनमें से कुछ तो साथ में ही मोक्ष गए और कुछ उनके बाद निकट काल में ही मोक्ष गए, उन्हें भी भगवान के साथ ही मोक्ष गए, ऐसा कह दिया है। जैसे, किसी राजा के साथ लाखों सैनिकों की सेना साथ में आती है, राजा हजार–पाँच सौ सैनिकों के साथ अपने नगर में प्रवेश करता है, तथा सुना के अन्य सैनिक दो चार दिन बाद भी प्रवेश करते हैं; तथापि कहने में ऐसा ही आता है कि राजा ने ५ लाख सैनिकों के साथ अमुक तिथि को अमुक समय में नगर में प्रवेश किया। ऐसा भावार्थ जानना। – पृष्ठ २८९

(४३)

प्रश्न :– तीर्थंकर के माता–पिता भी क्या कभी मोक्ष जाते हैं? यदि जाते हैं तो कब तक?

उत्तर :– तीर्थंकर के पिता जघन्यपने तो तद्भव मोक्षगामी हैं और उत्कृष्टपने (अधिक विलम्ब हो तो) सातवें भव में मोक्ष जावें ही जावें। – पृष्ठ ३५२

(४४)

चर्चा :– तीर्थंकर को सर्व प्रथम आहारदान देनेवाला जीव उसी भव से मोक्ष जाता है। – पृष्ठ १८५

(४५)

चर्चा :– तीर्थंकर से तीर्थंकर, नारायण से नारायण, प्रतिनारायण से प्रतिनारायण, बलभद्र से बलभद्र, कदाचित् मिलते नहीं। यदि मिलें, तो इतने चिह्न से मिलें–रथ की ध्वजा, शंख का शब्द, इत्यादि दूर के चिह्न से मिलें। श्रीकृष्णजी घातकी खण्ड के भरतक्षेत्र के नारायण से जब वहाँ द्रौपदी को लेने गये, तब मिले थे। तब शंख के शब्द द्वारा अथवा रथ की

ध्वजा द्वारा मिले थे- ऐसा हरिवंशपुराण में कहा है। –पृष्ठ ६८

(४६)

प्रश्न :– निहार किन–किन के नहीं होता है?

उत्तर :– तीर्थंकर, बलभद्र, नारायण, प्रतिनारायण, चक्रवर्ती, त्रेषठ शलाका पुरुष और युगलिया मनुष्य व तिर्यंच, तीर्थंकर का माता–पिता, लब्धिधारी मुनि, केवली, देव, नारकी इतने के निहार नहीं होता है।

(४७)

चर्चा :– विदेह क्षेत्रों में भी बलभद्र, नारायण के मृतक शरीर को छह मास पर्यन्त भरत, ऐरावत क्षेत्रों की तरह मोहकर्म के वश होकर अपने स्कन्धों पर लिये फिरते रहते हैं। पश्चात् देवों के उपदेश से उन नारायण के मृतक शरीर को छोड़कर दीक्षा धारण करते हैं। यह कथन पुण्यास्रवजी कथाकोष में आदिनाथ के भवान्तर में कहा है। (दांत की सोलह कथा में) – पृष्ठ ३२७

(४८)

तीर्थंकर की माता से देवांगनाओं द्वारा किये कुछ प्रश्न और माता द्वारा दिये गये उनके उत्तर :–

प्रश्न :– जगत में सुभट कौन है?

उत्तर :– जगत में सुभट वह है, जो विषय–कषाय को जीतता है।

(४९)

प्रश्न :– कायर और दीन कौन है?

उत्तर :– जो इन्द्रियमद मेटने को बलहीन है।

(५०)

प्रश्न :– पण्डित कौन है?

उत्तर :– जो सुमार्ग चले तथा दुराचार, दुमार्ग दलै – वह सम्यग्दृष्टि पण्डित पुरुष जानना।

(५१)

प्रश्न :– अतिमूर्ख कौन है?

उत्तर :– जो विषयसुख की वाँछा करे।

(५२)

प्रश्न :– संसार में धिक् कौन है?

उत्तर :– जो प्रतिज्ञा लेकर भंग करे।

(५३)

प्रश्न :– आँख का अन्धा कौन है?

उत्तर :– जिसकी दृष्टि में देव–अदेव तथा सुगुरु–कुगुरु समान हैं।

(५४)

प्रश्न :– गूंगा कौन है?

उत्तर :– जो असत्य बोलता है।

(५५)

प्रश्न :– लम्बी भुजा होने पर भी करहीन कौन है?

उत्तर :– जिसने जिनपूजा नहीं की, और पात्रदान नहीं दिया।

(५६)

प्रश्न :– पग होने पर भी लँगड़ा कौन है?

उत्तर :– जिसने तीर्थयात्रा नहीं की।

(५७)

प्रश्न :– संसार में शरण देनेवाला कौन है?

उत्तर :– निश्चय से तो रत्नत्रयधर्म और व्यवहार से पंच परमेष्ठी। अन्य कोई शरण नहीं।

(५८)

प्रश्न :– ग्रहणीय क्या है और त्याज्य क्या है?

उत्तर :– रत्नत्रयधर्म ग्रहण करने योग्य है, और मोहकर्म त्यागने योग्य है।

(५९)

प्रश्न :– ध्येय करने योग्य कौन है?

उत्तर :– निजचिद्रूपस्वरूप अथवा पंच परमेष्ठी।

(६०)

प्रश्न :– कृपण कौन है?

उत्तर :– जो धन-संचय करे।

(६१)

प्रश्न :– लोभी कौन है?

उत्तर :– जो प्राप्तपुण्य से अधिक तृष्णा बढ़ावे।

(६२)

प्रश्न :– निर्लोभी कौन है?

उत्तर :– जो प्राप्त पुण्य में सन्तोष धारण करें।

(६३)

प्रश्न :– हेय क्या है?

उत्तर :– संसार व संसार का कारण।

(६४)

प्रश्न :– उपादेय क्या है?

उत्तर :– मोक्ष व मोक्ष का कारण ।

(६५)

प्रश्न :– धनरहित भी परमभाग्यवान कौन है?

उत्तर :– संतोषी पुरुष। – पृष्ठ १८४

(६६)

प्रश्न :– किन–किन सम्यक्त्वों में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है?

उत्तर :– चारों ही सम्यक्त्वों में अर्थात् प्रथमोपशम, द्वितीयोपशम, क्षयोपशम और क्षायिक में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है। किन्हीं आचार्यों का मत है कि प्रथमोपशम में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध नहीं होता, क्योंकि इसका काल लघु अन्तर्मुहूर्त है; जबकि तीर्थंकर प्रकृति बँधने का काल दीर्घ अन्तर्मुहूर्त है। इस तरह से विधि मिलती नहीं। – पृष्ठ २९०

(६७)

चर्चा :– नरक में तीर्थंकर जीव के आयु के अन्त से छह महीने पहले से ही ऊपर की मार पड़ने का अभाव होवे, उसकी वेदना की शान्ति होवे। भूमि की वेदना, शरीर की वेदना, अथवा मन की वेदना, आकुलता शान्त नहीं होती।

तथा स्वर्गों में औरों की तरह तीर्थंकर महाराज के जीवन की मृत्यु से छह माह पहले मरण के चिह्न नहीं होते। जैसे माला का मुरझाना, मुकुट अथवा शरीर की ज्योति मन्द पड़ जाना, शरीर की ग्लानता होना – इत्यादि चिह्न नहीं होते। – पृष्ठ २८७

(६८)

प्रश्न :– तीर्थंकर प्रकृति का प्रथम बन्ध तथा क्षायिकसम्यक्त्व का प्रारम्भ केवली, श्रुतकेवली की समीपता बिना नहीं होता और तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध तीनों सम्यक्त्वों में (उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक में) हो सकता है – ऐसा कहा, तथा तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होने के पश्चात् तीन भव से अधिक संसार में रहता नहीं। आगम में ऐसा भी कहा कि दूसरे–तीसरे नरक का निकला हुआ क्षायोपशमिक सम्यक्त्व लिए तीर्थंकर पर्याय धारण करे, और वह तीर्थंकर केवली व श्रुतकेवली से मिलता नहीं, मिले बिना, क्षायिकसम्यक्त्व हुए बिना मोक्ष जाता नहीं – यह कैसे?

उत्तर :– यह कथन तीर्थंकर बिना अन्य जीवों की अपेक्षा से है –

तीर्थंकर इसके अपवाद हैं, तीर्थंकर की सभी बातें लोकोत्तर होती हैं, तीर्थंकर तो गृहस्थावस्था में ही अवधिज्ञान और किंचित् न्यून सम्पूर्ण द्वादशांग का ज्ञान रखते हैं, इसलिए उनके क्षायिकसम्यक्त्व स्वयमेव होता है। तीर्थंकर आप डीलाँ ही (शरीर से ही) श्रुतकेवली हैं, इसलिए औरों का नाम (सहारा-निमित्त) क्यों चाहिए – ऐसा अभिप्राय जानना।

– पृष्ठ ३१८

(६९)

प्रश्न :– सामान्यतया भव्य जीव का लक्षण क्या है?

उत्तर :– अध्यात्म शब्द से विशेष प्रीति-विशेष रुचि, संसार के दु:खों से भयभीत, संसार से विरक्ति, कर्म के जीतने का उत्साह अत्यन्त वर्ते, इन तीन गुणों का धारक जीव निश्चय से भव्य जानना। – पृष्ठ १५३

(७०)

प्रश्न :– बारह चक्रवर्तियों के नाम बताइये? और यह भी बतायें कि आयु पूर्ण होने पर उनकी क्या गति हुई?

उत्तर :– भरत (मोक्ष), सगर (मोक्ष), मघवान (स्वर्ग), सनत्कुमार (स्वर्ग), शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ – ये तीनों मोक्ष गये, सुभौम (सप्तम नर्क), महापद्म, रहिषेण, जयसेन – ये तीनों मोक्ष गये, ब्रह्मदत्त (सप्तम नर्क)। – पृष्ठ ५०

(७१)

प्रश्न :– चक्रवर्ती की निधि की लम्बाई-चौड़ाई बतलाकर उसका रहने का स्थान बतलाइये?

उत्तर :– चक्रवर्ती की निधि १२ योजन लम्बी, ९ योजन चौड़ी, ८ योजन ऊँची, आकाश में अधर रहती है। आठ पहिये की लम्बी, चौकोर गाड़ी के आकार रत्नमई हजार-हजार देवों द्वारा सेवित होती है।

– पृष्ठ २८८

(७२)

प्रश्न :– देव, मनुष्य, तिर्यंच, नारकी के शरीर व अनेक वनस्पति, अनेक मेवा मिष्ठान्न, घृत, दही, दुग्धादि रस, वस्त्र, सुवर्ण रूपाकार काँसा, पीतल, लोहा, आदि धातु व हीरामणि, मोती व पारस, चिंतामणि, चित्रावेल, कामधेनु, नव–निधि, कल्पवृक्ष इत्यादि नाना प्रकार के पदार्थ कहाँ से आते हैं; और कहाँ जाते हैं। तथा जीव नामक पदार्थ कहाँ से आता है और कहाँ पर जाता है?

उत्तर :– यहाँ पूर्व में कही जो सर्व पुद्‌गल की पर्याय सो सब एक पुद्‌गल के परिणमन का माहात्म्य है। पुद्‌गल द्रव्य की अचिन्त्य शक्ति है। तीन लोक की रचना पुद्‌गल द्रव्य से निर्मित है। जीवादिक पाँच पदार्थ तो अमूर्तिक हैं, अत: उनकी रचना तो होती नहीं है, वह प्रत्यक्ष अगोचर नहीं है, अर्थात् आँखों से गोचर है, वह नियम रूप से पुद्‌गल ही है, वही दिखलायी देता है, खेत में बीज गाढ़कर जो खेत तैयार किया है, वहीं के जलादिक के निमित्त पाकर अनुक्रम से वह नाज रूप परिणमता है। पश्चात् मनुष्यादिक खाते हैं, उनके शरीर व विष्टारूप परिणमती है, पश्चात् विष्टा तो तत्काल ही मिट्टी आदि रूप परिणमती है।

पुनश्च, उसी खेत की मिट्टी वन रूप होकर कपास, रूई, पुनि, सूत, मोटा कपड़ा रूप अनुक्रम से परिणमती है। पश्चात् पाँच–सात बरस में गलि कर धूल आदि हो जाती है। पुनश्च वही मिट्टी घास रूप हो जाती है, पश्चात् गाय–भैंस उसको चरती है, तब कितनी ही घास तो शरीर का समघातरूप परिणमती, कितनी ही घास गोबर रूप, कितनी ही घास दुग्ध रूप परिणमती है, पश्चात् तत्काल ही छाछ घृत रूप परिणमती, फिर उसका भक्षण करके विष्टावास, सप्त धातु रूप परिणमती है। पुनश्च वही गन्ना रूप से परिणमती क्रमश: गुड़, खाण्ड, मिश्री रूप परिणम कर पुन: विष्टारूप हो जाती है। पुनश्च वही मिट्टी, पत्थर के बीच ताँबा, लोहा, सोना रूप आदि अनेक धातु व हीरा, माणिक, पन्ना आदि अनेक प्रकार के रत्न रूप हो जाती है। पश्चात् काल पाकर संख्यात–असंख्यात वर्ष में नाश

होकर अनेक रूप परिणमती है। तथा आकाश में तिष्ठती सूक्ष्म परमाणु वा बादल रूप होती है। वही जल सभी वनस्पति वा त्रस जीव का शरीररूप परिणमती है। तथा सीप के मुख में पड़ी पानी की बूँद मोती रूप परिणमती है। ऐसे ही या रस चित्रावेली का मध्य नचता मणि, नवनिधि आदि तीन लोक का परिणमन जानना।

पुनश्च ऐसे ही देव, नारकी के शरीर, आदि के रूप में सूक्ष्म वर्गणाओं का तत्काल ही शरीर रूप मनोज्ञ वा अमनोज्ञ परिणमन है। पश्चात् आयु के अन्त में सूक्ष्म रूप परिणमन है। वे ही परमाणु देवों के शरीर में, वा नरक के शरीर में जा लगते हैं, और नरक के शरीर का देव के शरीर में आकर लग जाते हैं। अत: एक-एक परमाणु के नाना काल में सर्व अनंतानंत जाति की विचित्रता रूप परिणमन की शक्ति पायी जाती है। अत: पुद्गल द्रव्य की शक्ति अपरम्परा केवलज्ञानगम्य है। इसमें किसी का कर्तव्य नहीं मानना। सर्व पदार्थ अपने-अपने स्वभाव का कर्ता है, कोई मूर्ख परमेश्वर को कर्ता मानते हैं, सो उनकी बुद्धि मोह से ठगी गयी है। मूर्तिक वस्तु का अमूर्तिक वीतराग कर्ता कैसे होगा? अत: इसमें भ्रम तजना योग्य है।

– पृष्ठ ३००-३०२

(७३)

चर्चा :– चक्रवर्ती की नवनिधियाँ अपने-अपने क्षेत्र की महानदी जहाँ जिस समुद्र में प्रवेश करती है, वहाँ से पैदा होती है। यह उत्तर पुराण में १९वें तीर्थंकर के पुराण में कहा है। – पृष्ठ २९०

(७४)

प्रश्न :– कोटशिला का प्रमाण क्या है और उसे किस-किस ने कितना ऊँचा उठाया?

उत्तर :– कोटिशिला आठ योजन चौड़ी और एक योजन मोटी है। इसको प्रथम नारायण ने तो मस्तक से भी एक हाथ ऊपर उठाया और अन्तिम नारायण ने जमीन से मात्र चार अंगुल ऊपर उठाया। बीच में

अनुक्रम से नारायणों का पराक्रम घटता-घटता जानना। ज्ञात रहे - नारायण कुल ९ होते हैं। - पृष्ठ ३२

(७५)

शंका :- तीर्थयात्रा में पुण्य का बन्ध कैसे? (क्योंकि) चार पहर तो मार्ग में चलते काल व्यतीत हो, और हिंसा मार्गविषैं बहुत होती है, सवारी के लिए पशुओं के लदने पर अथवा रसोई आदि के हेतु हिंसा का ही शाश्वत आता-जाता कारण मिलता है, तथा मार्ग के खेद से निद्रा विशेष आती है, वह भी बहुत प्रमाद है। परमेश्वर का दर्शन स्मरण, शास्त्रों का श्रवण, अध्ययन संयम थोड़ा भी पलता नहीं है।

समाधान :- जैनधर्म में रागादिक का घटना ही धर्म का लक्षण कहा है। इसलिये जब यात्रा के लिये चलने का उद्यम किया, तब सांसारिक कार्य का महत्व घटता है, और अपने नगर अथवा घर से चलने के पश्चात् सर्व सावद्य कार्यों का ममत्व भी छूटता है, और एक श्रीजी का दर्शन आदि की शुभभावना रहती है, तथा आनेवाली यात्रा की अनुमोदना रूप परिणाम रहता है। अत: यात्रा करने में महापुण्य कहा है, इसमें सन्देह नहीं करना। घर में खोटा निमित्त करके अच्छा परिणाम कदाचित् रहता नहीं, और जो घर में ही परिणामों की विशुद्धता होती तो वन में क्यों जाते, घर में ही धर्मसेवन करते। इस कारण **जैसा निमित्त, वैसा ही कार्य प्रगट होता है, यह नियम है।** अत: कार्य (निमित्त) सच्चा मिलाना चाहिए।

- पृष्ठ ३१२

(७६)

चर्चा :- तीर्थयात्रा करने के लिए सोलह गुण होने चाहिए -

(१) देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा (२) शीलव्रत का अंगीकार (३) यात्रा में नित्य दीन-दुखी को दान देना (४) भूमि पर शयन करना (५) दिन में गमन (६) उपकारी (७) क्षमावान (८) पगों से चलना (९) प्रभावना अंग (१०) दयाभाव (११) संघ का सहकारी (१२) दशा निहारी (१३) व्रती

(१४) लोभरहित (१५) (१६) द्रव्यसहित हो। ऐसे सोलह गुण जिसमें होवे, वह पुरुष तीर्थयात्रा करे। – पृष्ठ १४८

(७७)

प्रश्न :– निर्वाणकाण्ड की जयमाल में मुख्यतीर्थों से मात्र लाखों और करोड़ों जीव ही मोक्ष गये – ऐसा कहा, सो किस अपेक्षा से कथन है? एक चौथे काल में भरतक्षेत्र से मोक्ष जानेवालों को गिने तो कम से कम असंख्यात तो होंगे ही – उसमें भी मुख्य स्थानों से ही बहुत गये?

उत्तर :– यह कथन श्रेष्ठ पुरुषों की अपेक्षा से है। शास्त्र में जो कथन आता है, वह श्रेष्ठ जीवों का ही आता है। पुराणों में भी प्रधान पुरुषों की ही भवान्तरकथा तथा पुण्य-पाप के फल की कथा-वार्ता लिखी जाती है। यह मुख्य पुरुषों की ही अपेक्षा से सामान्य कथन है। वैसे तो एक-एक तीर्थ से असंख्यात-असंख्यात जीव ही मोक्ष गए हैं-इसमें सन्देह नहीं। – पृष्ठ ३२२

(७८)

प्रश्न :– निर्वाणकाण्ड के सब जीवों की संख्या कितनी है?

उत्तर :– चौबीस तीर्थंकरों के अतिरिक्त साढ़े तेरह करोड़ बारह सौ इक्यासी है। – पृष्ठ १८७

(७९)

प्रश्न :– चारों गतियों में कषायों के काल का प्रमाण बतलाइए?

उत्तर :– नरक गति में लोभ का अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल है, उससे संख्यातगुना माया का काल है, उससे संख्यातगुना मान का काल है, उससे संख्यातगुना क्रोध का काल है। वह भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है-ऐसा जानना, देवों में नर्क से विपरीत अनुक्रम जानना। यथा-क्रोध का अन्तर्मुहूर्त, उससे संख्यातगुना मान का, उससे संख्यातगुना लोभ का काल है। अन्तर्मुहूर्त में भेद बहुत हैं। मनुष्य और तिर्यंचों में एक सा ही प्रमाण है। यथा, मान का काल अन्तर्मुहूर्त है, उससे किंचित् अधिक क्रोध का, उससे किंचित्

अधिक माया का, और उससे किंचित् अधिक लोभ का है, वह भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। इस प्रकार कषाय का काल जानना। अन्तर्मुहूर्त उपरान्त इसका सद्भाव नहीं रहता। – पृष्ठ २७

(८०)

प्रश्न :– चारों गतियों में उत्पन्न होने पर पहले समय में किस–किस कषाय का उदय होता है?

उत्तर :– उत्पन्न होते ही प्रथम समय में नरक में क्रोध, तिर्यंच में माया, देव में लोभ, मनुष्य में मान कषाय का उदय पाया जाता है। द्वितीय अन्तर्मुहूर्त समय में यथासंभव जानना। ऐसा नियम कषाय–प्राभृत जिसका दूसरा नाम महाधवल है, उसके कर्त्ता यतिवृषभाचार्य ने लिखा है, परन्तु महाकर्म प्रकृतिप्राभृत जिसका दूसरा नाम धवल है, जिसके कर्त्ता भूतबलि आचार्य हैं, उनके अभिप्रायानुसार उपर्युक्त नियम नहीं है, अत: दोनों प्रकार से लिख दिया है, फिर जो केवली ने जाना सो प्रमाण है। – पृष्ठ २६

(८१)

चर्चा :– जहाँ राग, तहाँ विषय–कषाय इनके काल का वर्णन–

नरक गति में लोभ का अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल है, उससे संख्यात गुणा काल माया का है, उससे संख्यात गुणा काल मान का है, उससे संख्यात गुणा क्रोध का काल है। सो भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है, ऐसा जानना।

देव गति में नरक गति से उलटा अनुक्रम जानना, अर्थात् क्रोध का अन्तर्मुहूर्त काल है। उससे संख्यात गुणा मान का, उससे संख्यात गुणा माया का, उससे संख्यात गुणा लोभ का काल है। अन्तर्मुहूर्त का भेद बहुत है।

मनुष्य–तिर्यंच में एक–सा प्रमाण है – यहाँ मान का काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है, उससे किंचित् अधिक क्रोध का है, उससे कुछ अधिक माया का है, उससे कुछ अधिक लोभ का है – वह भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है – इस तरह कषाय का काल जानना। अन्तर्मुहूर्त उपरान्त यह (कषाय) रहती नहीं है। – पृष्ठ २७

(८२)

प्रश्न :– जब छह महीने का मोक्ष जाने का विराधक काल हो, तब लगता (लगातार) आठ समय में छह सौ आठ जीव मोक्ष कैसे जावें, क्योंकि चौदहवें गुणस्थान के धारक जीव तो उत्कृष्ट ५९८ ही कहे हैं, इसलिए आठ समय में जाना कैसे सम्भव है?

उत्तर :– छह महीने का विराधक काल आठ समयों के बीच पड़ता है, इसलिए आगे–पीछे के आठ समय जान लेना। इसका विशेष स्पष्टीकरण इसी ग्रन्थ में अन्य स्थान पर इस भाँति भी किया है :-

छह महीने आठ समय में ६०८ जीव मोक्ष जाते हैं (–ऐसा नियम है)। जब छह महीने का विराधक काल पड़ता है, तब आठ समय में ६०८ जीव मोक्ष जाते हैं। उसका क्रम इस प्रकार का है :-

प्रथम समय में ३२, दूसरे समय में ४८, तीसरे समय में ६० चौथे समय में ७२, पाँचवें समय में ८४, छठवें समय में ९६, सातवें समय में १०८ तथा आठवें समय में भी १०८ जीव मोक्ष जाते हैं। इस प्रकार सब का जोड़ ६०८ हुआ – सो नियम से मोक्ष जाते हैं। परन्तु ये आठ समय लगता (लगातार) नहीं जानना। छह मास बाधक काल के आगे–पीछे लगता जानना।

भावार्थ :– चौदहवें गुणस्थान का काल भी 'अ इ उ ऋ लृ' इन पाँच लघु अक्षरों का उच्चारणमात्र है। छह महीने के ऊपर आठ समय लगता (लगातार) सम्भव नहीं है। अर्थात् छह महीने तक लगातार कोई जीव मोक्ष न जावे और बाद के आठ समयों में ही ६०८ जीव मोक्ष जावें – ऐसा सम्भव नहीं लगता। अत: छह महीना के आगे–पीछे ही सम्भव है – ऐसा अर्थ जानना।

(८३)

प्रश्न :– क्या इस पंचम काल में भरतक्षेत्र में उत्पन्न हुए मनुष्य जीव भी आगे (अगले भव से) मोक्ष जावेंगे?

उत्तर :– हाँ, इस पंचम काल में भरतक्षेत्र में उत्पन्न हुए भद्र परिणामी मिथ्यादृष्ट १२३ मनुष्य विदेहक्षेत्र में जन्म लेकर उसी भव में कर्म काटकर मोक्ष जावेंगे। – पृष्ठ १५४–५५

(८४)

प्रश्न :– क्या इस पंचमकाल में जन्मा हुआ कोई जीव भविष्य की चौबीसी में तीर्थंकर होगा?

उत्तर :– हाँ, हाँ, अवश्य। श्री समन्तभद्राचार्य का जीव स्वर्ग से आकर दिव्यवादजी नाम के तेईसवें तीर्थंकर होंगे। उनकी आयु बहत्तर वर्ष लाख पूर्व की होगी और जिनान्तरा ३० लाख कोटि सागर का होगा। –१५१

(८५)

प्रश्न :– क्या विदेहक्षेत्र में भी बलभद्र अपने भाई नारायण के मृतशरीर को छह मास तक अपने कन्धों पर लिये फिरते हैं?

उत्तर :– हाँ, विदेहक्षेत्र में भी भरत ऐरावत क्षेत्रों की तरह मोहकर्म के वश होकर बलभद्र अपने कन्धों पर अपने भाई नारयण के मृतक शरीर को छह महास पर्यन्त लिये फिरते हैं, पश्चात् देवों के उपदेश से उस नारायण के शरीर को छोड़कर दीक्षा धारण करते हैं।

(८६)

प्रश्न :– नरक में दु:ख कितने प्रकार के हैं?

उत्तर :– पाँच प्रकार के हैं। यथा – छेदन, भेदन, तापन, ताडन, शूलरोपण। – पृष्ठ ३७

(८७)

प्रश्न :– उन पाँच प्रकार के दु:खों के कारण कौन–कौन हैं?

उत्तर :– पाँच हैं। शरीर में रोगादिक, मानसिक कषायादिक, क्षेत्र से ऊष्मादिक, नारकियों में परस्पर युद्ध आदि तथा असुरकुमारों द्वारा लड़ाना आदि। – पृष्ठ ३७

(८८)

प्रश्न :– एकेन्द्रिय के दु:ख विशेष है कि नारकी के दु:ख विशेष हैं?

उत्तर :– एकेन्द्रिय की अपेक्षा नारकियों के दु:ख अत्यन्त अधिक हैं।

पुन: प्रश्न :– परन्तु संसार में तो एकेन्द्रिय के नरक के बीच अनंत गुणा दु:ख बताया है, सो कैसे है?

समाधान :– जीव नामक पदार्थ के सभी गुणों में एक मुख्य गुण ज्ञान है। और एकेन्द्रिय के अक्षर के अनन्तवें भाग ज्ञान है। नारकी जीव पंचेन्द्रिय है, वह ज्ञान की अपेक्षा मनुष्य सादृश्य है। उस अपेक्षा नारकी के बीच एकेन्द्रिय पर्याय हीन है। एकेन्द्रिय में तो अनन्त काल पर्यन्त भी निकास नहीं है, और नरक में तो असंख्यात वर्ष पर्यन्त दुख पाता है। जैसे कोई पुरुष को दंड देना बताया सो या तो उसके नेत्र फोडि नष्ट करा दे, या बीस कोड़ा दंड दे, तब वह पुरुष कोड़ा खाना स्वीकार करे और नेत्र गंवाना स्वीकार न करे। अत: ज्ञाननाश (जघन्य परिणमन) का भी बहुत अनर्थ है। इस अपेक्षा नरक बीच एकेन्द्रिय पर्याय निकृष्ट है। एकेन्द्रिय पर्याय तो मिथ्यात्व का फल है। तथा नरक पर्याय तीव्र कषाय का फल है। अत: कषाय से मिथ्यात्व का पाप अनंत गुण अधिक है। इसलिए कारण की अपेक्षा भी एकेन्द्रिय पर्याय से उसमें सुख वा दुख अधिक-अधिक होता है-यह नियम है, जो किसी को बहुत ज्ञान हो और कोई को पाप प्रकृति के उदय से मन्द होवे, और बहुत पाप प्रकृति के उदय से न भी होवे। पुण्य प्रकृतियों के उदय विशेष होवे ज्यों ज्यों जीवों के ज्ञान अधिक-अधिक होय, त्यों-त्यों सुख अधिक-अधिक होवे-यही दिखाते हैं।

जैसे कोई भोग-कार्य में प्रवर्ते और उस पुरुष को निद्रा आने लग जावे, तब वह पुरुष निद्रा नहीं लेना चाहता है। और कोई पुरुष के दीर्घ रोग का उदय पाया जावे, तब वह पुरुष निद्रा लेना चाहे। निद्रा में ज्ञान घाता जाता है, और ज्ञान घाता गया, तब सुख व दु:ख कौन भोगवे, क्योंकि सुख का भोग तो एक ज्ञान में ही है।

परन्तु सुख तो आत्मा का निज स्वभाव है, ज्यों-ज्यों कर्म का मंद उदय होता जावे, त्यों-त्यों सुख की वृद्धि होती जावे, और अधिक-अधिक तीव्र कर्म का उदय होता जावे, त्यों-त्यों दुख अधिक-अधिक बढ़ता जावे, इसलिए यह जाना गया कि सुख तो आत्मा का निश्चय निज स्वभाव है, और दु:ख औदयिक भाव है, आत्मा का असली (वास्तविक) भाव नहीं है। अत: नारकी के एकेन्द्रिय बीच महापर्म दुखी जानना। अथवा विशेष पापी पंचेन्द्रिय आदि द्वि-इन्द्रिय पर्यन्त तिर्यञ्च भी एकेन्द्रिय बीच अत्यन्त दुखी जानना। तभी तो एकेन्द्रिय हिंसा का व अहिंसा का पाप-पुण्य तुच्छ है और त्रस का विशेष है। जीव का तो नाश है नहीं, जीव को सुख-दु:ख उत्पन्न करने का पाप-पुण्य लगता है। अत: यह बात सिद्ध हुई कि एकेन्द्रिय बीच नारकी महादु:खी है। सुख व दु:ख एक ज्ञान के पास रहते हैं। - पृष्ठ ३२५-३२६

(८९)

प्रश्न :- नारकियों में उत्कृष्ट रोगों का प्रमाण कितना है?

उत्तर :- पाँच करोड़ अड़सठ लाख नब्बे हजार पाँच सौ चौरासी (५,६८,९०,५८४) रोग होते हैं। - पृष्ठ ३९

(९०)

प्रश्न :- चार प्रकार के मुनिराज कौन-कौन से हैं?

उत्तर :- जिनकल्पी, स्थविरकल्पी, अपवादमार्गी और उत्सर्गमार्गी। इनमें जिनकल्पी तो एकलविहारी होते हैं, स्थविरकल्पी मुनियों के संघ में रहते हैं, अपवादमार्गी सुगम (कोमल) आचरण आचरते हैं, और उत्सर्गमार्गी उत्कृष्ट (कठोर) आचार को आचरते हैं। - पृष्ठ ५७

(९१)

प्रश्न :- ऋषि किसे कहते हैं? ऋषि कितने प्रकार के होते हैं?

उत्तर :- ऋद्धि के धारक को ऋषि कहते हैं। उनके चार भेद हैं - **१. राजऋषि -** विक्रिया अक्षीणऋद्धि के धारक, **२. ब्रह्म-ऋषि -** बुद्धि

धारक व औषध ऋद्धि के धारक, **३. देव–ऋषि –** आकाशगामी ऋद्धि के धारक, **४. परमऋषि –** केवलज्ञानी। इस प्रकार चार भेद श्री चामुण्डरायजी कृत श्रावकाचार में कहे हैं। – पृष्ठ २६८

(९२)

प्रश्न :– मुनिराज कहाँ रहते हैं?

उत्तर :– मुनिराज वसतिका, गुफा, पर्वत के शिखर, वृक्षतले, नदी के तट पर, पुराना निर्जन वन इत्यादि रमणीक स्थानों में रहते हैं।

– पृष्ठ ६२

(९३)

प्रश्न :– शय्या–आसन की भूमि को सायं–प्रभात के समय मुनि कैसे शोधें और कैसे सामायिक–प्रतिक्रमण करें?

उत्तर :– सायंकाल तीन घड़ी दिन शेष रहने पर ही भूमि को शोधकर पीछे से प्रतिलेखन करके उस स्थान पर सामायिक–प्रतिक्रमण गुरु के साथ तीन घड़ी रात पर्यन्त ही करें। पश्चात् सामायिक का काल व्यतीत हो जाने पर भी रात में उसी स्थान पर मौन से तत्त्व का विचार करते हुए अथवा द्वादश अनुप्रेक्षा का चिन्तवन करते हुए, संसार के दु:ख से भयभीत होकर विरागता का अवलम्बन लेते हुए, निजात्मा का अवलोकन करता हुआ तिष्ठै। आपको ऐसा माने कि ''**मैं एक ज्ञायक, आत्मद्रव्य ही हूँ–यह शरीर मुरदा मैं नहीं हूँ।**'' पश्चात् पिछली–रात में अल्प निद्रासहित हाथ–पैर को संकोचकर आसन में शयन करे, फिर तीन घड़ी रात शेष रहने पर ही उठकर पीछी से भूमि को शोधकर सामायिक–प्रतिक्रमण तीन घड़ी दिन चढ़ने तक करे। पश्चात् उस भूमि का अवलोकन करे, यदि कदाचित् किसी जीव की विराधना रात में हो, तो उसका प्रायश्चित लें। – पृष्ठ २७६

(९४)

प्रश्न :– मुनि किस कारण से आहार लेते हैं?

उत्तर :– क्षुधा की उपशान्ति के लिए प्राणरक्षा के लिए, धर्म के लिए,

संयम के लिए तथा वैयावृत्य के लिए भोजन लेते हैं। ये पांच कारण जानना। – पृष्ठ ५७

(९५)

प्रश्न :– मुनि किस प्रयोजन से आहार नहीं लेते?

उत्तर :– शरीरवृद्धि के लिए, शरीर कान्ति के लिए, बलवृद्धि के लिए, स्वाद के लिए, आयुवृद्धि के लिए भोजन नहीं लेते हैं।

– पृष्ठ ५७

(९६)

प्रश्न :– व्यवहार सम्यक्त्व बिना तीन प्रकार के पात्रों को व्यवहार सम्यग्दृष्टि श्रावक दान देवे कि नहीं अथवा व्यवहार सम्यग्दृष्टि तीन प्रकार के पात्र, व्यवहार सम्यग्दर्शन रहित गृहस्थ के हाथ का आहार जानबूझकर लेवे या नहीं?

उत्तर :– सम्यक्त्व बिना अर्थात् सम्यक्त्व रहित पात्रों को तो सम्यग्दृष्टि गृहस्थ जान–बूझकर दान देवे नहीं, और भोले का दोष नहीं। तथा सम्यग्दृष्टि मुनि आदि पात्र जान–बूझकर भी सम्यक्त्व रहित गृहस्थ जैनकुल के हाथ का आहार लेते हैं तथा श्रावक गृहस्थ की क्रिया शुद्ध देखकर आहार लेते हैं। ४६ दोष, ३२ अन्तराय टालकर निरन्तराय आहार लेते हैं–ऐसा जानना। – पृष्ठ ३१०

(९७)

प्रश्न :– एकलविहारी मुनि का स्वरूप और उनके विहार के सम्बन्ध में बतलाइये?

उत्तर :– एकलविहारी मुनि भी दो–तीन या चार आदि के संग रहे, एक ही अकेला मुनि एकल–विहारी नहीं होता।

भावार्थ :– एकल (एका) विहारी मुनि भी अकेला नहीं रहे–दो चार आदि के संग रहे। सो जिसको एकल–विहारी होना हो, वह अपने गुरु के

पास जाकर विनयवान होकर हाथ जोड़कर विनती करे कि हे स्वामिन्! हमारे परिणाम अपूर्व सिद्धान्त के अभ्यास करने के हैं, यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं अमुक संघ में अमुक आचार्य के समीप जाऊँ। इस प्रकार एक बार अथवा तीन बार निवेदन करे। आचार्य यदि उसको एकलविहारी होने योग्य जाने तो आज्ञा प्रदान करें, अन्यथा कह दें कि तुम यहाँ ही रहो। यदि आज्ञा मिल जावे तो संघ में से निकलकर विहार करे और दूसरे संघ में जाकर मिल जावे। पश्चात् उस संघ के आचार्य नगर से नगरान्तर गमन करने को विहार करें, तब विहार के समय मुनि आचार्य के पास जाकर नमस्कार करें। – पृष्ठ २७२

(९८)

प्रश्न :– मुनि, आर्यिका व प्रतिमाधारियों से कैसे संभाषण करें?

उत्तर :– मुनि को **नमोस्तु** अथवा नमस्कार कहें। आर्यिका को **वंदामि** और श्रावक को **इच्छामि** कहें। – पृष्ठ २७३

(९९)

प्रश्न :– मुनिराज आचार्य को कैसे नमस्कारादि करें और आचार्य कैसे उत्तर दें?

उत्तर :– मुनिराज आचार्य के सन्मुख जाकर खड़े रहें और अवसर पाकर सामने जाकर पीछी से धरती को प्रतिलेखन करके एक हाथ प्रमाण भूमि के अन्तरवर्ती दोनों हाथ के बीच पीछी को रखकर पीछी सहित हाथ जोड़कर पंचांग नमस्कार करें, और मुख से ऐसे वचन उच्चार करें – '**अहं वन्दामि**' पश्चात् वह आचार्य भी ऐसे ही प्रति–नमस्कार करें।

भावार्थ :– मुनि, मुनि को नमस्कार करते हैं। – पृष्ठ २७५

(१००)

प्रश्न :– नदी पार करना हो तो मुनिराज क्या करें?

उत्तर :– प्रथम अपने पैरों को पींछी से पोंछकर नदी में प्रवेश करें,

पश्चात् लगे हुए दोषों के निराकरण के लिए पार उतरकर नदी के तट पर ही कायोत्सर्ग करके लगे हुए पाप को दूर करें। यदि महानदी पार करना हो तो नौका में भी बैठ सकते हैं, फिर उतरकर उसका भी प्रायश्चित्त लेते हैं। सो इस बात में पाप थोड़ा है, फल अधिक है, इससे बहुगुण है; अल्प अपराध हो वैसा ही कार्य करना उचित है। जिस बात का इलाज ही न हो, और उसमें किंचित पाप लगे तो वहाँ परिणाम शुद्ध रखना उचित है। इससे पाप-निरोध हो जाता है। - पृष्ठ ६२

(१०१)

प्रश्न :- मुनिराज किसी के भविष्य में होने वाले भवितव्य को (होनहार घटनाओं को) पहले से बतला देते हैं, तो इसमें उन्हें सावद्य का दोष लगता है कि नहीं?

उत्तर :- जो भी दोष लगता है वह कषायभावों से ही लगता है। मुनिराज के कषाय नहीं है, उनके मान या लोभ का प्रयोजन नहीं है; और गृहस्थ के लोभ-मानादि कषायों का प्रयोजन आ पड़ता है, अतः गृहस्थ को पाप लगता है। यदि गृहस्थ भी निस्पृह होकर भवितव्य को बतलावे तो उसे भी पाप नहीं लगे-ऐसा तात्पर्य जानना। - पृष्ठ ३१०

(१०२)

प्रश्न :- आचार्य के पास जाकर सामान्य मुनि कैसे बैठें और कैसे उपदेश ग्रहण करें?

उत्तर :- मुनि, आचार्य महाराज के समीप जाकर खड़े रहें। न तो बहुत दूर और बहुत निकट, विनयपूर्वक तिष्ठें। पश्चात् आचार्य की आज्ञा होने पर ही बैठें, अन्यथा खड़े ही रहें। फिर अवसर पाकर आचार्य के समक्ष अपने कल्याण के लिए प्रार्थना करें। हे स्वामिन्! जिससे मेरा कल्याण हो, ऐसा उपदेश मुझे दीजिये। आचार्य जो उपदेश दें, उसे विशेष रुचि से ग्रहण करें, और जितना उपदेश सुना हो उसकी भले प्रकार धारणा रखें, और बाद में वैसे ही प्रवर्तन करें, उसे विस्मरण न कर दें। - पृष्ठ २७५

(१०३)

प्रश्न :– कोई भी मुनि आचार्य को पुस्तकादि कैसे देवें?

उत्तर :– अपने दोनों हाथों में पुस्तक, कमण्डलु, पींछी को धारण करके आचार्य के दोनों हाथों में देवें, तथा जब आचार्य से स्वयं पुस्तक लेवें तो दोनों हाथों से लेवें। ऐसा नहीं कि एक ही हाथ से पकड़ा दें अथवा एक ही हाथ से ग्रहण कर लें। ऐसी प्रवृत्ति में अविनय होती है, और मुनि तो महाविनयवान तथा अप्रमादी होते हैं। – पृष्ठ २७५

(१०४)

प्रश्न :– मुनिगण आचार्य के समीप आकर उन्हें नमस्कार करें, तब आचार्य उनसे कैसे संभाषण करें? तथा आर्यिका व अन्य पुरुषों से क्या कहें?

उत्तर :– प्रथम तो मुनि आचार्य को नमस्कार करें, पश्चात् आचार्य भी मुनि को नमस्कार करें। इतना विशेष कि सामान्य मुनि तो आचार्य को विशेष विनय से नमस्कार करें, और आचार्य उस मुनि को थोड़े विनय से नमस्कार करें। जब आर्यिका आचार्य को नमस्कार करें, तब आचार्य उनसे कहें कि तेरी इस स्त्री–पर्याय का कर्म व सर्व अष्टकर्म का क्षय हो। उत्कृष्ट प्रतिमाधारी श्रावक से कहें कि तेरे तेरे धर्म की वृद्धि हो। सामान्य पुरुष या स्त्री से कहें कि तेरे शुभ हो व शान्ति हो। तथा चाण्डालादि अस्पर्श शूद्र से कहें कि पाप क्षय हो – इस प्रकार आचार्य संभाषण करते हैं।

– पृष्ठ २७५

(१०५)

प्रश्न :– आर्यिका मुनि के पास कोई प्रश्न करने जावें तो कैसे करें?

उत्तर :– अकेली एक आर्यिका तो मिुन के पास जाती ही नहीं, जो सबमें बड़ी आर्यिका हो उसे आगे करके मुनि के पास जावे। पश्चात् दूर से ही बड़ी वाली आर्यिका खड़ी होकर प्रश्न पूछे और मुनि अथवा आचार्य भी शरीर को संकोच कर अच्छे दृष्टि रखते हुए सामान्य उत्तर देवे –अधिक

देर नहीं लगावे। फिर वह आर्यिका भी शीघ्र ही अपने स्थान को चली जाये। इसके अतिरिक्त अर्थात् आर्यिका के बिना अन्य कोई भी सामान्य स्त्री मुनि के पास जाकर प्रश्न नहीं कर सकती, यदि उसे कुछ पूछना है तो आर्यिका के पास जाकर उन्हीं से पूछे, उन्हीं से सीखे-उन्हें से पढ़े।

– पृष्ठ २७५

(१०६)

प्रश्न :- आर्यिका की प्रवृत्ति कैसी होती हैं? कृपया विस्तार से बतलाइये?

उत्तर :- आर्यिका महाविनयवती, लज्जा सहित, विरागता संयुक्त तथा दोय आर्यिका आदि को लेकर कई आर्यिका इकट्ठी रहें, एक-एक अकेली न रहें। जहाँ गृहस्थ स्त्री-पुरुष रहें, वहाँ नहीं रहें; तथा मुनि की भाँति नगर से बहुत दूर वन, उद्यान, गुफा, पर्वत की शिखर पर नहीं बसें और न नगर के अति निकट ही बसें।

(नोट-मुनि हो या आर्यिका हों, नगर में रहने की तो दोनों में से किसी को भी आगम की आज्ञा नहीं है, जो रहते हैं, वे जिनाज्ञा की प्रत्यक्ष अवहेलना करते हैं) वन में ऐसे स्थान पर रहें, जो न तो नगर के अति निकट हो और न अति दूर ही हो।

यदि कार्यवश मुनि के समीप आर्यिका जावें तो बड़ी आर्यिका (गणिनी) को आगे करके अधोदृष्टि किये हुए भूमि को शोधते हुए गमन करें। आचार्यों से पाँच पग, उपाध्याय से छह पग, साधु से सात पग दूर खड़ी रहें और विनयपूर्वक भूमि से मस्तक लगाकर पंचांग नमस्कार करे तथा आहार के लिये नगर में जावें तो भी दो आदि आर्यिका साथ जावें तथा आहार के बिना किसी और कार्य से भी जावें तो भी इसी प्रकार दो आदि आर्यिका साथ जावें।

भावार्थ-एक-एक आर्यिका नहीं रहे। ऋतुधर्म होने पर तीन दिन तक भोजन नहीं करें, यदि करें भी तो रसरहित नीरस भोजन करें, पश्चात् चौथे दिन उष्ण पानी से स्नान करके रस सहित भोजन लें। – पृष्ठ २७६

(१०७)

प्रश्न :– सुना है कि पंचम काल के कुछ द्रव्यलिंगी मुनि और उनके सेवक नरक में जावेंगे। इस सम्बन्ध में कुछ विशेष कथन कीजिये?

उत्तर :– इस पंचम काल में साढ़े-सात करोड़ जिनमुद्राधारी नग्न द्रव्यलिंगी परिणामभ्रष्ट (सग्रन्थ परिणामी) मुनि नर्क में जावेंगे, तथा इनके सेवक श्रद्धानी पुरुष पचपन करोड़ पैंसठ लाख पच्चीस हजार पाँच सौ बीस उपर्युक्त भ्रष्ट गुरुओं के श्रद्धानी भी पंचम काल में नर्क जावेंगे। और इस समय वर्तमान काल में बहुपरिग्रही, सप्त व्यसनासक्त, कुभेषी और इनके श्रद्धानी, इनको पूजने-मानने वाले, आहारदान देनेवाले इनके साथ अनेकों नर्क गये और जावेंगे, उनकी संख्या नहीं। ऐसे तो प्रचुर बहुत गुरु व शिष्य जावेंगे, उनकी कौन गिनती गिने। पूर्व में कहे द्रव्य से निर्ग्रन्थ भाव से भ्रष्ट वे ही नर्क गये और जावेंगे तो इन भ्रष्टों का क्या पूँछना? यह तो अपने श्रावकों सहित नर्क जावें ही जावें। – पृष्ठ १५४-५५

(१०८)

चर्चा :– आचार्य के गुण – रत्नत्रय धर्म का धारक हो, क्षमावान हो, धैर्यवान हो, अनेक शास्त्रों का पारगामी हो, दीर्घकाल का दीक्षित हो, ज्ञान-वैराग्य से संयुक्त हो, मोक्षाभिलाषी हो, मैत्री-प्रमोद माध्यस्थ, कारुण्यभाव सहित हो, उच्च कुल का हो, सुन्दर शरीर हो इत्यादि बहुगुण के धारक संघ में मुनि होवे, उसे गणधर जी आचार्य पद देते हैं। पश्चात् उस आचार्य को संघ के सब मुनि नमस्कारादि करते हैं और उनकी आज्ञा में प्रवर्तते हैं। आचार्यपद बड़े आचार्य के दिये बिना नहीं आता, तथा वह आचार्यादि मुनि हैं, सो परमेष्ठी जिनवाणी रत्नत्रयरूप धर्म को ही नमस्कारादि करते हैं-यह पद सर्व प्रकार पूज्य है, इसलिए इसी का विनय करना संभव है। – पृष्ठ २७४

(१०९)

चर्चा :– आचार्य महाराज संसार भ्रमण के दीर्घ रोगी का रोग मेटने

को वैद्य समान हैं। वह प्रथम तो तत्त्वों का उपदेश देकर, मोह, रोग दूर करते हैं। पश्चात् सामान्य उपदेश देते हैं, फिर विशेष उपदेश देकर ज्ञान-वैराग्य को बढ़ाकर जरा-मरण से रहित करते हैं। – पृष्ठ २७४

(११०)

प्रश्न :– मुनियों का द्रव्यलिंग तो सब का सदृश है, और भावों की गम्य (पहिचान) है नहीं, ऐसी स्थिति में आचार्य की पहिचान कैसे हो?

उत्तर :– विहार के समय ही अन्य मुनि जिसको नमस्कार करते जावें, अथवा जिसके सन्मुख अवलोकते जावें, जिसकी आज्ञा मानते जावें, इस अनुसार अन्य मुनियों की प्रवृत्ति देखकर ऐसा जाने कि सर्वसंघ के आचार्य यह हैं-ऐसे पहचान का स्वरूप जानना। – पृष्ठ २७३

(१११)

चर्चा :– मुनिराज चार ज्ञान के धारी हों, अनेक ऋद्धियां जिन्हें स्फुरायमान हो गई हों तो भी यदि उनके गुरु पास में विराजते हों, और कोई भक्त पुरुष उनके पास आकर शिक्षा-दीक्षा की याचना करे, तो वह मुनिराज उसे शिक्षा-दीक्षा नहीं देते, और यह कहते हैं कि यहाँ से निकट ही हमारे गुरु श्री विराजै हैं, सो वे परम दयालु तुम्हारा मनोवांछित पूर्ण करेंगे। अत: हे वत्स! हे पुत्र! तुम श्रीगुरु के निकट जाओ, तुम्हारा परम कल्याण गुरु महाराज करेंगे – इस प्रकार विनयरूप वचन बोले। जिनधर्म के आज्ञाकारी शिष्य के विनय गुण की अद्‌भुत महिमा है, उसी विनय गुण के माहात्म्य से अनेक गुण व ऋद्धियां स्फुरायमान होती हैं। और जो अज्ञानी महामूर्ख महामानी कदाचित् श्री गुरु के होते हुए भी आप उपदेश देने लग जावे तो वह शिष्य दण्ड का पात्र है, वह शिष्य विनयगुण लोपी है। यह कथन बड़े पद्मपुराणजी के तीसरे अधिकार में कहा है।

– पृष्ठ ३०७

(११२)

प्रश्न :– क्या मुनिराज शय्या के लिये तृण इकट्ठा कर सकते हैं?

उत्तर :– नहीं कर सकते। यह कथन श्री पद्मनन्दिपच्चीसी में धर्मोपदेशामृतम् के पहले अधिकार की ५३वीं गाथा में आया है। यथा–

दुर्ध्यानार्थम् वद्यकारणमहो निर्ग्रन्थताहानये।
शय्याहेतु तृणाद्यपि प्रशमिना लज्जाकरं स्वीकृतं
यत्तत्किंचन गृहस्थयोग्यमपरं स्वर्गादिकम् साम्प्रतम्।
निर्ग्रन्थेष्वपि चेत्तदस्ति नितरां दूरः प्रविष्टः कलिः।।५३।।

अर्थात् शय्या के लिए घासफूस का इकट्ठा करना मुनि के लिए दुर्ध्यान, पाप और निर्ग्रन्थता की हानि का कारण है – लज्जाजनक है आदि। यह सब कलियुग का प्रवेश है। विशेष अर्थ पद्मनन्दिपच्चीसी में देख लें।
– पृष्ठ ३२९

(११३)

(३) चर्चा :– जो क्षत्रिय-ब्राह्मण-वैश्य उच्च कुल का हो तो भी यदि उसके अंग-उपांग अधिक या हीन हों, अन्धा, बहरा, काना, कषायी, तीव्र मिथ्यात्वी हो तो उसे दीक्षा देना उचित नहीं है-यह नियम है। तथा कोई भोला जीव ११ प्रतिमा के धारक क्षुल्लक-ऐलक के पास जाकर दीक्षा की याचना करे, तो वे क्षुल्लक व ऐलक दीक्षा नहीं देते; वे उसे अपने श्रीगुरु के पास ले जाते हैं, और उनसे दीक्षा दिलाते हैं, सो यह न्याय है। जिसके पास पाँच रुपये का धन हो और उससे चिन्तामणि रत्न माँगा जाये तो कहाँ से देगा? और वर्तमान में तो कलिकाल का दोष ऐसा है कि सप्तव्यसन के सेवन करने वाले, महामिथ्यात्वी, महामूर्ख, अज्ञानी, जिनधर्म के द्रोही, देव-गुरु-धर्म के अविनयी, तीव्रकषायी, महालोभी, महामानी, निर्माल्य के भक्षक, महाविषयी, मोल के लिए हुए, ऐसे जैन के कुलिंगी जीवों से कोई धर्म रसायन अमृत चाहे, अथवा उसके मुख का उपदेश सुनकर स्वर्ग-मोक्ष की अभिलाषा रखे, तो उसकी बुद्धि मोह द्वारा ठगी गई है। वह स्वर्ग मोक्ष के स्थान पर नर्क-निगोद को प्राप्त होगा। अनन्त संसार में उन कुलिंगियों के साथ-साथ भ्रमण करेगा। – पृष्ठ २८७

(११४)

प्रश्न :– आचार्य द्वारा शिष्य को उपदेश देने का क्रम क्या है?

उत्तर :– प्रथम तो तीन लोक के स्वरूप को बतलावें, पश्चात् सिद्धान्तशास्त्र पढ़ावें, फिर तर्कशास्त्र पढ़ावें, उसमें भी प्रथम तो सामान्य-स्वरूप बतलावें, फिर विशेष स्वरूप बतलावें। जैसे दीर्घ रोगी पुरुष को सच्चा वैद्य प्रथम तो उसे चूर्णादिक देकर उसका रोग दूर करे, पश्चात मूंग की दाल आदि का पथ्य देवे, फिर दाल-भात, पकवान, पंचामृत, मेवा आदि देकर उसका पोषण करे और शरीर को पुष्ट करे। वैसे ही संसार का दीर्घरोग मेटने के लिए सुगुरु वैद्य हैं, सो प्रथम तो तत्त्वों का उपदेश देवें, जिससे शिष्य का मोह दूर हो, पश्चात् सामान्य उपदेश देवें, तत्पश्चात् विशेष उपदेश देकर ज्ञान-वैराग्य को बढ़ाकर जरा-मरण से रहित करे-ऐसे सामान्य वर्णन मिलता है। – पृष्ठ २७४

(११५)

प्रश्न :– उपदेश किसे नहीं देना?

उत्तर :– अज्ञानी और कषायी पुरुष को उपदेश देना योग्य नहीं है, क्योंकि उसे उपदेश देने से विपरीतता उत्पन्न होती है। – पृष्ठ २७३

(११६)

चर्चा :– स्त्री, पुत्र, शिष्य और घोड़ा इन चारों को अनुक्रम-अनुक्रम से शिक्षा देकर मार्ग पर लाना चाहिए। एक ही बार बलजोरी से नहीं समझाना चाहिए। – पृष्ठ ३३१

(११७)

चर्चा :– मनुष्य, तिर्यंच, देशव्रती अथवा असंयत सम्यग्दृष्टि उत्कृष्ट अच्युतस्वर्ग तक उपजते हैं। असंयत मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी निर्ग्रन्थभाव से ऊपर ग्रैवेयक पर्यन्त उपजते हैं। सम्यग्दृष्टि महाव्रती सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त उपजें। भोगभूमियाँ सम्यग्दृष्टि तो सौधर्म ईशान स्वर्ग में और मिथ्यादृष्टि भोगभूमियाँ भवनत्रिक में उपजे। तापसी उत्कृष्टपने भवनत्रिक में उपजते हैं।

नागा संन्यासी ब्रह्मोत्तर पर्यन्त उपजते हैं, कॉजी-भिक्षु अच्युत पर्यन्त उपजे हैं। अनुदिश-अनुत्तर विमान से चय करके जीव नारायण प्रतिनारायण नहीं होते। मनुष्य, तिर्यंच गति से अथवा भवनत्रिक से च्युत हुए जीव त्रेसठ शलाका पुरुष नहीं होते। – पृष्ठ २७१

(११८)

चर्चा :– जो धर्मात्मा मुनि हैं, वे अज्ञानी लौकिक जीवों से संभाषण नहीं करते। हाँ, यदि किसी महामुनिराज पर उपसर्गादि आ जाये तो उसे निवारण कराने के अभिप्राय से लौकिक अज्ञानीजन से भी संभाषण करें तो दोष नहीं है। परन्तु अन्य कार्य के लिए उनसे संभाषण नहीं करें। यह कथन प्रवचनसारजी में तीसरे चरित्राधिकार में किया है। सो बहुगुण और अल्प अपराध का कार्य मुनिराज भी करते हैं, तो फिर व्रती व अव्रती गृहस्थ कैसे न करें? – पृष्ठ ३२३

(११९)

प्रश्न :– माला में १०८ दाने क्यों होते हैं?

उत्तर :– गुण अठोनर सौ मुनिन का, माला जपौ त्रिकाल।
प्रभु तुम दीन दयाल हौ, द्यानत करौ निहाल।।

यह १०८ गुण की अपेक्षा माला के १०८ मणियों की रचना जाननी। पंच परमेष्ठी के १०८ गुण इस प्रकार हैं – अर्हन्त के ९, लब्धियों के ९, सिद्ध के ८, आचार्य के ३६, उपाध्याय के २५, साधु के २८ मूलगुण तथा निश्चय सम्यक्त्व व व्यवहार सम्यक्त्व इस प्रकार १०८ गुण जानना।
– पृष्ठ १४७

(१२०)

प्रश्न :– भेषधारियों में अवगुण तो विशेष हैं, सो तो अपने को लेना नहीं और उनकी अनुमोदना भी नहीं करना, परन्तु उनमें कोई शील, संयम आदि गुण पाये जायें तो उनको श्रद्धानी पुरुष ग्रहण करें या नहीं? और उसके गुणों की अनुमोदना भी करें या नहीं?

उत्तर :– उनका गुण भी किसी भी प्रकार से लेना उचित नहीं तथा मन–वचन–काय, कृत–कारित–अनुमोदना द्वारा किसी प्रकार भी सराहना करने योग्य नहीं। इसका कारण बतलाते हैं।

जैसे मदिरा के भाजन में दुग्ध रखा हो तो वह असेव्य, अपेय हो जाता है और किसी भी प्रकार ग्रहणयोग्य नहीं रहता, वैसे ही जिनधर्म की क्रिया अन्यमत के मिथ्यात्वकर्म में जा पड़े, मिल जाये, तो वह ग्रहणीय नहीं है और सराहनीय भी नहीं। **संसार में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं, जिसमें गुण न हो,** गुण–पर्याय का समुदाय ही तो द्रव्य है। द्रव्य कहो – या पदार्थ कहो अथवा वस्तु कहो, सब एकार्थ हैं फिर भी जिसको जिस गुण की चाह हो, वह उसी को अंगीकार करें–जैसे तृषातुर को तो जल प्रिय है, क्षुधातुर को भोजन प्रिय है – इनको धनादिक वस्तु किस मतलब की? तथा कुशीली विटपुरुष को वेश्यादि कुशील स्त्री प्रिय है, उसके लिए शीलवंती भला किस काम की? तथा कूकर को विष्टा हाड़, चाम, मांसादि ही कार्यकारी हैं, इसी के गुण उसे प्रिय हैं, उस कूकर को भला चिन्तामणि रत्न किस काम का? और उच्च कुल वाले को मलिन वस्तु किस काम की? वैसे ही धर्मात्मा मोक्षमार्ग के अर्थी को तो एक सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र रूप तीन–रत्न परमध्यान कार्यकारी है। जिस पुरुष में यह गुण पाये जावें तो इन गुणों के अलावा और भी सर्वगुण महिमा योग्य हैं – पूजने योग्य हैं। और इन तीन गुणों बिना भले ही और अनन्त गुण पाये जावें, तो भी वे सब के सब किञ्चित भी कार्यकारी नहीं, और अनुमोदना करने योग्य भी नहीं। अरे! इतना ही नहीं, वे तो निन्दा योग्य दूर से ही विषवत् तजने योग्य हैं। सौ अन्यमतियों में अथवा जैनभासियों में मोक्षमार्ग रूप धर्म का एक अंश भी नहीं, जैसे–सर्प के मुख में अमृत का एक अंश भी नहीं, उसमें तो विष का समूह ही है। अत: श्रद्धानी पुरुषों बिना और ठौर (जगह) जो धर्म के गुण की बुद्धि रखते हैं, सो वह उनका भ्रम है, उनमें ही यदि रत्नत्रय धर्म हो तो, वह कुलिंगी क्यों कहलावें? ऐसा जानना।

– पृष्ठ ३०५

(१२१)

प्रश्न :– आदिनाथजी के पूर्व दश भव के पर्यायों को मुनियों ने नमस्कार किया तथा बनारसीदासजी ने सम्यग्दृष्टि को अपने कवित्त सवइयों में नमस्कार किया है, सो असंयमी को नमस्कार करना योग्य कैसे है?

उत्तर :– प्रत्यक्ष तो नमस्कार योग्य नहीं है, परोक्षरूप से योग्य है। जैसे महामुनि प्रत्यक्ष तो (गृहस्थ दशा वाले) तीर्थंकर को नमस्कार करते नहीं हैं, और परोक्ष पंच-कल्याणक को नमस्कार करते ही हैं और सम्यक्त्व गुण तो नमस्कार योग्य है ही, परन्तु असंयमी प्रत्यक्ष नमस्कार योग्य नहीं है।

पुनः प्रश्न :– आदिनाथजी को सम्यक्त्व तो जुगलिया के भव में उत्पन्न हुआ, उनके पिछले भव को सम्यक्त्व बिना नमस्कार कैसे योग्य है?

उत्तर :– वे भव आदिनाथजी के कारण पूज्य हैं।

पुनः प्रश्न :– जो उनके ही कारण नमस्कार करना योग्य है, तो पिछली अनन्त पर्याय को ही क्यों न किया?

समाधान :– वे भव आदिनाथजी को उपकारी नहीं, वे तो आत्मा के घातक ही थे, और अपकारों का विनय कैसे करें? जैसे श्री जी के कारण से विनय का कारण जो नाना प्रकार के उपकरणादि वस्तु उसको नमस्कार करते हैं, और जो अविनय की कारण वस्तुयें हैं, उनको नमस्कार नहीं करना चाहिए। – पृष्ठ ३२१

(१२२)

कुपात्र के तीन भेद –

उत्कृष्ट कुपात्र :– मुनीश्वर, (जो) २८ मूलगुण बाह्यदृष्टि से पालें, परन्तु सम्यग्दर्शन न हो।

मध्यम कुपात्र :– ऐलक ब्रह्मचारी, एकादश प्रतिमा द्रव्यरूप पालें, परन्तु सम्यग्दर्शन हो।

जघन्य कुपात्र :– क्षुल्लक व्रत पालें, सम्यक्त्व रहित हो।

– पृष्ठ ३४८

(१२३)

चर्चा :– चार प्रकार के दान का वर्णन

(१) आहार दान (२) औषधि दान

(३) अभय दान (४) शास्त्र दान।

अथवा

(१) वसतिका, (२) पींछी (३) कमंडलु (४) श्रावक-आर्यिका को वस्त्र आदि उपकरण इत्यादिक विशेष भेद इसके हैं।

(१२४)

चार प्रकार की दत्ति के नाम –

(१) समदत्ति (२) दयादत्ति (३) पात्रदत्ति (४) सर्वदत्ति

(१२५)

दातार के सात गुणों का वर्णन –

(१) इस लोक के फल की वांछा नहीं, (२) क्षमा (३) कपट रहित (४) अदेखसकापनी नहीं (५) विषाद रहित (६) हर्ष संयुक्त होवे (७) अहंकार रहित होवे – ये सात गुण जानना। – पृष्ठ ७

(१२६)

प्रश्न :– शत्रु कितने प्रकार के होते हैं?

उत्तर :– चार प्रकार के होते हैं – (१) अशुद्धशास्त्र, (२) अज्ञानीगुरु, (३) अन्यायीराजा और (४) आज्ञालोपी शिष्य या चाकर।

– पृष्ठ ३५२

(१२७)

चर्चा :– सम्यग्दृष्टि युगलिया जीव तो स्वर्ग के प्रथम युगल में होते

हैं; और मिथ्यादृष्टि युगलिया भवनत्रिक में उत्पन्न होते हैं। ऐसा नियम है।
–पृष्ठ ६३

(१२८)

चर्चा :– गर्भज सैनी पर्याप्त जलचर जीव भी स्वर्ग जाते हैं। यह गोम्मटसारजी में कर्मकाण्ड के पांचवें स्थान समक्तिरति अधिकार के बन्ध रचना लेश्या में कहा है। – पृष्ठ २८८

(१२९)

चर्चा :– प्रथम युगल का कल्पवासी देव तीसरे नरक में गया और वहीं मरण को प्राप्त हो गया। उसे आठवीं पृथिवी में कायिक जीव उपजना है। सो मरणान्त समुद्घात पर्यन्त वहाँ ९ राजू प्रदेशों की श्रेणी अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त बढ़ती है, पश्चात् प्रदेश समेट कर वहाँ जाकर एकेन्द्रिय उत्पन्न होता है। – पृष्ठ २८९

(१३०)

चर्चा :– भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषी देव स्वयमेव तो स्वर्ग के प्रथम युगल और नीचे तीसरे नरक पर्यन्त ही गमन करते हैं, अधिक नहीं। परन्तु यदि कल्पवासी देवों के द्वारा ले जाये जावें तो सोलहवें स्वर्ग पर्यन्त जा सकते हैं। – पृष्ठ ७३

(१३१)

चर्चा :– असैनी जीव भवनवासी-व्यन्तर देवों में उत्पन्न होते हैं, परन्तु ज्योतिषियों में उत्पन्न नहीं होते। कारण कि वे उत्कृष्ट आयु भी प्राप्त करें तो, पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण असंख्यात वर्ष की ही पावें, जबकि ज्योतिषी देवों की जघन्य आयु पल्य के आठवें भाग है।
– पृष्ठ २८८

(१३२)

चर्चा :– दशवें गुणस्थान का मरा जीव भी सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न

होता है; तथा ग्यारहवें गुणस्थान का मरा सौधर्म युगल से लेकर सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त उत्पन्न होता है। – पृष्ठ ६७

(१३३)

चर्चा :– देव-नारकी दोनों ही जलचर-थलचर-नभचर इन तीनों में उत्पन्न होते हैं। तथा ढाई द्वीप के मध्यम जघन्य उत्कृष्ट भोगभूमिया के पर्याप्त अवस्था में तीनों शुभ लेश्याएँ पायी जाती हैं। वे लेश्याएँ बदलती रहती हैं। प्रत्येक की अन्तर्मुहूर्त स्थिति रहती है। – पृष्ठ २९०

(१३४)

चर्चा :– सोलहवें स्वर्ग पर्यन्त देवांगनाओं की रचना ज्योतिषी-व्यन्तर-भवनवासी की तरह जानना।

भावार्थ :– सोलहवें स्वर्ग पर्यन्त की देवांगनाएँ मिथ्यादृष्टि एकेन्द्रिय पर्यन्त पैदा होती हैं। – पृष्ठ २९०

(१३५)

चर्चा :– सम्मूर्च्छन मनुष्य आर्यक्षेत्र में ही उत्पन्न होते हैं, अनार्य क्षेत्र में उत्पन्न नहीं होते। तथा चक्रवर्ती की पटरानी के शरीर में उत्पन्न होते हैं, और कर्मभूमिया की स्त्री के शरीर में उत्पन्न होते हैं। – पृष्ठ ३०८

(१३६)

प्रश्न :– आयुबन्ध का नियम क्या है? अपकर्ष का क्या स्वरूप है?

उत्तर :– किसी कर्मभूमि के मनुष्य या तिर्यंच की भुज्यमान आयु ६५६१ वर्ष है। वहाँ उस आयु के २/३ भाग बीतने पर २१८७ वर्ष रहे। तब प्रथम समय से लगाकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त काल तक प्रथम अपकर्ष है। इसी बीच में परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध होता है। यदि इसमें न बँधे तो इसके २/३ भाग बीतने पर ७२९ वर्ष आयु के शेष रहे वहाँ, अन्तर्मुहूर्त काल तक दूसरा अपकर्ष है, इसमें परभव की आयु बँधेगी। ऐसे आठ अपकर्षों में बँध जावेगी, यदि आठों में न बँधे, और नवमा अपकर्ष है

नहीं, तो फिर आयु का बंध कैसे होगा? सो कहते हैं – आवली की असंख्यातवाँ भाग प्रमाण काल भुज्यमान आयु का अवशेष रहे, उसके पहले अन्तर्मुहूर्त काल मात्र समयप्रबद्धों से परभव की आयु को बांधकर पूरा कर सकते हैं – ऐसा नियम है।

(१३७)

प्रश्न :– विक्रिया किस–किस के होती है और वह कितने प्रकार की है?

उत्तर :– कर्मभूमिया, भोगभूमिया तिर्यंच अथवा मनुष्य पर्याय दशा में तथा चक्री, अर्द्धचक्री, देव, नारकी, अग्निकायजीव, वायुकायजीव और बादरपर्याप्तजीव, इन सबके विक्रिया होती है। इनमें से देव, भोगभूमिया, चक्री, अर्द्धचक्री, इनके तो पृथक् तथा अपृथक् दोनों प्रकार की विक्रिया होती है, तथा नारकी, कर्मभूमिया मनुष्य और तिर्यंच, अग्निकाय, वायुकाय– इनके अपृथक् विक्रिया ही पाई जाती है, पृथक् विक्रिया नहीं पाई जाती। पृथक् विक्रिया उसे कहते हैं, जिसमें एक शरीर के अनेक शरीर हो जावें और अपृथक् विक्रिया उसे कहते हैं, जिसमें उस एक ही शरीर को (मूलशरीर को) सिंह, सर्पादि अनेक रूप में परिणमावें, भिन्न–भिन्न शरीर न बना सके। – पृष्ठ ३०९

(१३८)

प्रश्न :– देव, जुगलिया, चक्री, अर्द्धचक्री अपनी विक्रिया से अनेक शरीर बनाकर अनेक स्त्रियों को युगपत् एक ही काल में भोगते हैं, अथवा एक–एक को अनुक्रम में भोगते हैं?

उत्तर :– यदि अनुक्रम से भोगते हों तो अनेक शरीर बनाने की क्या आवश्यकता रहे; और फिर एक–एक को भोगने में अधिक सुख भी कहाँ हुआ। इसलिए सर्व स्त्रियों को एक ही काल में युगपत ही भोगते हैं। ऐसे ही इन्द्र महाराज एक ही काल सहस्र जिह्वा बनाकर भगवान का गुणानुवाद करते हैं, अथवा हजार नेत्र बनाकर भगवान के रूप का एक साथ ही

अवलोकन करते हैं, अथवा हजार हाथ बनाकर हजार कलश युगपत् श्रीजी के मस्तक पर डालते हैं–इत्यादि एक काल में ही अनेक क्रियायें युगपत् होती हैं। परन्तु ध्यान रहे कि सर्व क्रियाओं में उपयोग एक ही है, और क्रियायें भी एक ही जाति की होती हैं– ऐसा जानना।

– पृष्ठ ३०२

(१३९)

प्रश्न :– शास्त्रों में तो ऐसा कहा कि एक काल में एक ही क्रिया होती है और एक ही क्रिया का बोध होता है – सो कैसे?

उत्तर :– उन सर्व क्रियाओं को एक ही क्रिया कहा जाता है। सर्व क्रियाओं में उपयोग एक ही है। सर्व का जानपना एक ही काल में सामान्यपने युगपत् एक ही काल में होता है।

जैसे आकाश में ज्योतिषमण्डल तिष्ठे हैं; सो एक विमान के ऊपर उपयोग देने से एक ही का ज्ञान होता है, हजारों लाखों के ऊपर (तारागण के ऊपर) उपयोग देने पर हजारों लाखों का युगपत् सामान्यपने ज्ञान होता है। तथा औषधियों का चूर्ण मुख में देने पर उसका जानपना एक ही समय में अनुभव में आता है, सो बीस औषधियों को एक ही ज्ञेय कहिये और जो पदार्थ इन्द्रियगोचर होगा सो अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध होगा। एक परमाणु का इसके ज्ञान नहीं, वह अनन्त गुण पर्याय का समुदाय है–ऐसा अर्थ जानना। – पृष्ठ ३०२

(१४०)

प्रश्न :– मन का और पाँचों इन्द्रियों के ज्ञान का क्षयोपशम आत्मा के किन प्रदेशों में पाया जाता है?

उत्तर :– मन का क्षयोपशम मन ही की आठ पंखुड़ियों के अग्रभाग में पाया जाता है, आत्मा के सर्वप्रदेशों में नहीं। इसी प्रकार पाँचों इन्द्रियों के ज्ञान का क्षयोपशम पाँचों इन्द्रियों की अपनी अभ्यन्तर निवृत्ति के आत्मप्रदेश में पाया जाता है, सर्वप्रदेशों में नहीं पाया जाता। – पृष्ठ २९०

(१४१)

प्रश्न :– अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान का क्षयोपशम किस–किस स्थान पर पाया जाता है?

उत्तर :– भवप्रत्यय देशावधि का क्षयोपशम आत्मा के सर्व प्रदेशों में पाया जाता है, तथा गुणप्रत्यय देशावधि, परमावधि तथा सर्वावधि का क्षयोपशम नाभि के ऊपर जो शंख–चक्र–गदा–साथिया आदि उत्तम चिह्न होते हैं, उनमें ही पाया जाता है सर्वांग प्रदेशों में नहीं। कु–अवधि का क्षयोपशम तिर्यंच अथवा मनुष्यों के तो नाभि के नीचे उत्तम चिह्नों में पाया जाता है, एवं देव व नारकियों के कु–अवधि का क्षयोपशम सर्वांग प्रदेशों में पाया जाता है। अब रहा मन:पर्ययज्ञान, सो उसका क्षयोपशम मात्र मन ही के प्रदेशों में पाया जाता है। – पृष्ठ २९०

(१४२)

प्रश्न :– गुणप्रत्यय और भवप्रत्यय अवधिज्ञान के सम्बन्ध में कुछ स्पष्टता कीजिये?

उत्तर :– गुणप्रत्यय देशावधि मनुष्य अथवा तिर्यंच की नाभि ऊपर शंख, चक्र, साँथिया, वज्र, कलश आदि उत्तम लक्षण होते हैं, उनमें आत्मा के प्रदेश उनके माध्यम से नेत्रों की तरह प्रत्यक्ष देखते हैं। भवप्रत्यय देशावधि देव, नारकी और तीर्थंकर के होती है, वे सर्वांग आत्मप्रदेशों द्वारा स्पर्शन इन्द्रिय की तरह जानते हैं। परमावधि और सर्वावधि अवधिज्ञान चरमशरीरी सकलसंयमी मुनि के ही होते हैं, यह दोनों भी गुणप्रत्यय हैं और तपसंयमादिगुण की विशुद्धि से होते हैं, अत: गुणप्रत्यय हैं।

– पृष्ठ २३७

(१४३)

चर्चा :– भवनवासी–व्यन्तर–ज्योतिषी तीनों के अवधिज्ञान का विषय अधोदिशा में कम है; तथा चार दिशा और चार विदिशा में बहुत है। भवनवासी के ऊर्ध्वदिशा में सुमेर के अन्त पर्यन्त है, और तीनों को ही

ऊर्ध्व दिशा में यथायोग्य शास्त्रानुसार जानना। यहाँ उसका उपदेश नहीं देते हैं। – पृष्ठ ७१

(१४४)

प्रश्न :– विभंगज्ञान की क्या परिभाषा है?

उत्तर :– 'वि' कहिये विशिष्ट जो अवधिज्ञान तिसका भंग कहिये विपरीतभाव सो विभंगज्ञान है। वह तिर्यंच–मनुष्यगति में तो तीव्रकायक्लेशरूप द्रव्यसंयमादि द्वारा उपजै है सो गुणप्रत्यय है। तथा देव व नर्क गति में भवप्रत्यय होय है, सो सब ही विभंगज्ञान मिथ्यात्वादि कर्मबन्ध का बीज अर्थात् कारण है। कदाचित् नरकादि गति में पूर्व भव सम्बन्धी दुराचार के दु:खफल को जानकर कहीं सम्यग्दर्शन ज्ञानरूप धर्म का बीज भी होय है। – पृष्ठ २२४

(१४५)

चर्चा :– केवलदर्शन, केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों का प्रमाण समान होता है। – पृष्ठ ६३

(१४६)

चर्चा :– साता–असाता वेदनीय अन्तराय कर्म के निमित्त से पाँचों इन्द्रियाँ एवं छठवें मन के द्वारा आत्मा का वेदन कराता है।

भावार्थ :– सुख–दु:ख और खेद उपजाता है। – पृष्ठ २९०

(१४७)

चर्चा :– अवधिज्ञान अथवा मन:पर्ययज्ञान के बिना भी केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है, परन्तु द्वादशांग जो श्रुतज्ञान उसके बिना उपशम अथवा क्षपकश्रेणी नहीं मांडी जा सकती। – पृष्ठ ६६

(१४८)

प्रश्न :– अनुगामी–अननुगामी आदि छह भेद गुणप्रत्यय और भवप्रत्यय दोनों अवधिज्ञानों में हैं या एक में ही हैं?

उत्तर :– यह भेद गुणप्रत्यय अवधिज्ञान में ही होते हैं। भवप्रत्यय अवधिज्ञान में नहीं होते। – पृष्ठ ६२

(१४९)

चर्चा :– भरत अथवा ऐरावत क्षेत्र में खाड़ी अर्थात् उपसमुद्र का जल प्रलयकाल जो छठे काल के अन्त में सात कुवृष्टियाँ ४९ दिन पर्यन्त होगी, उनमें विलय हो जावेगा अथवा तुच्छ जल रह जावेगा। – पृष्ठ ३०८

(१५०)

प्रश्न :– क्या एक जीव के एक ही काल में एक साथ मन:पर्यय ज्ञान, परिहारविशुद्धिसंयम और आहारकद्विक – ये तीनों हो सकते हैं?

उत्तर :– नहीं, एक काल में एक ही हो सकता है। युगपत् दो या तीन नहीं हो सकते। – पृष्ठ ६२

(१५१)

प्रश्न :– उपशमसम्यक्त्ववाले को आहारकद्विक का उदय होता है या नहीं?

उत्तर :– नहीं होता। नपुंसक व स्त्रीवेदी के भी नहीं होता।

– पृष्ठ ६५

(१५२)

प्रश्न :– हिंसा, कषाय और मिथ्यात्व के पाप में कितने गुणाकार का अन्तर है?

उत्तर :– हिंसा की अपेक्षा कषायों का पाप अनन्त गुना अधिक है और उन कषायों के पाप से भी अनन्त गुना पाप मिथ्यात्व का है।

– पृष्ठ ६४

(१५३)

चर्चा :– इतने जीवों की हिंसा का पाप अनुक्रम से अनंत–अनंत गुना होता है–

एकेन्द्रिय, द्वि इन्द्रिय, त्रि–इन्द्रिय, चौ–इन्द्रिय, असैनी, सैनी, बड़ा सैनी, तिर्यंच, स्त्री, बालक, अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरति, अर्जिका, मुनि–ऐसे जीव जानना। – पृष्ठ २४९

(१५४)

प्रश्न :– कुभोगभूमिरूप कुमनुष्यों के द्वीपों में कौन जीव मरकर उत्पन्न होते हैं?

उत्तर :– जो जीव जिनलिंग धारण करके जिनलिंग में कपट संयुक्त मायावी होते हैं, अथवा जिनलिंग में ज्योतिष, वैद्यक, मन्त्रादिक कर आहारादिरूप आजीविका करते हैं, अथवा जिनलिंग में चाह की अधिकता रखते हैं, अथवा ऋद्धि सातारूप गारव से उपयुक्त हैं, अथवा जिनलिंग में आहार–भय–मैथुन–परिग्रहरूप संज्ञाओं में संयुक्त हैं, अथवा जिनलिंग धारण करके अन्य गृहस्थों का परस्पर विधि मिलाकर व्यवहार करते हैं, अथवा सम्यग्दर्शन का विरोध करते हैं, अथवा अपने दोषों की श्रीगुरु के निकट आलोचना नहीं करते, अथवा अन्य जीवों को दोष लगाते हैं, मौन त्यागकर भोजन करते हैं, कुपात्रों को दान देते हैं, वे जीव कुमनुष्यों में उत्पन्न होते हैं। ये जीव मिथ्यात्वरूपी महापाप सहित किंचित् पुण्योपार्जन करते हैं, अत: मरकर देवपर्याय भी पाते हैं। – पृष्ठ ६०

(१५५)

प्रश्न :– निद्रा के काल में विशेष पाप है अथवा जागृत दशा में?

उत्तर :– कोई तीव्र कषाय रूप प्रवर्तन करता हो तो निद्रा लेना योग्य है, क्योंकि निद्रा में कुछ मन्द कषाय हो जायेगी; और कोई जागृत दशा में पूजा शास्त्रस्वाध्याय के निमित्त से मन्दकषायरूप प्रवर्तन करता हो तो उसे निद्रा लेना उचित नहीं, क्योंकि उसमें पूर्ववत् कषाय मन्द नहीं रहती है। – पृष्ठ ३२६

(१५६)

चर्चा :– आत्मा के मध्य आठ प्रदेश कार्मण काययोग में मरण के अन्तराल में अकम्प हैं। उनमें योगों का अविभाग प्रतिच्छेद नहीं है।

(१५७)

प्रश्न :– बालक व वृद्ध पुरुष के ज्ञान की न्यूनता पाये जाने का क्या कारण है?

उत्तर :– मति-श्रुत दोनों ज्ञान इन्द्रियाधीन हैं, सो बालक के तो इन्द्रियाँ पुष्ट नहीं हुईं, और वृद्ध के शरीर क्षीण होने से इन्द्रियाँ भी क्षीण हो गईं, अतः इन्द्रियों के शिथिल होने से ज्ञान भी शिथिल होता है। कारण कि, बिना कार्य की सिद्धि होती नहीं – यह नियम है। और अन्धा-बहरा भी होता है, सो उसकी निवृत्तिइन्द्रिय में ही कसर पड़ती है, भावेन्द्रिय ज्यों की त्यों रहती है। यदि भावेन्द्रिय भी जाती रहे, तो पंचेन्द्रियपना कैसे रहे? इसीलिए द्रव्येन्द्रिय के बाह्य कारण बिना ज्ञान स्फुरायमान नहीं होता और अभ्यन्तर में भावेन्द्रिय के क्षयोपशम की नास्ति है नहीं, इस कारण पंचेन्द्रियपना गया नहीं, **भावेन्द्रिय का क्षयोपशम आयु-पर्यन्त रहता है-यह नियम है।**

– पृष्ठ ३०७

(१५८)

प्रश्न :– शास्त्र में सुख का कारण ज्ञान को कहा है, सो आत्मा ज्ञाता तो तीन काल का है और भोक्ता तीन काल का है नहीं – इसका क्या कारण है?

उत्तर :– ज्ञाताशक्ति तो तीन काल की एक काल में होती है और सुख व दु:खशक्ति वर्तमान काल जैसा हो, वैसी होती है। तथा निश्चय से विचारें तो ज्ञान भी वर्तमान का ही है। वर्तमान में तीन काल सम्बन्धी समय-समय अपूर्व ज्ञान होय है, अनागत काल की पर्याय वह वर्तमानकाल में उत्पन्न होय, और वर्तमान की पर्याय व्यय को प्राप्त होकर अतीतकालरूप होय – ऐसे काल अथवा पर्याय की फिरन से ज्ञान की भी फिरन होती है, इसलिए समय-समय का ज्ञान भिन्न-भिन्न है। अतः ज्ञान और सुख अपूर्व-अपूर्व समय-समय जानना। अतः ज्ञान भी समय-समय जैसा होय, तैसा ही ज्ञान के निमित्त से ज्ञानप्रमाण सुख जानना। – पृष्ठ ३२४

(१५९)

प्रश्न :– देवों में संयम नहीं पलता – इसका हेतु क्या है? लौकान्तिक तो ब्रह्मचारी हैं ही, तथा आदिनाथ के भवान्तर में हंस राजा का जीव ललितांग देव हुआ, उसके स्वयंप्रभा नामक देवांगना थी। उसने आयुपर्यन्त शील पालन किया – उसके ब्रह्मचर्य का पालन हुआ तो उसे व्रती कैसे न कहें?

उत्तर :– जिनमत में इच्छानिरोध को तप कहा है अथवा 'निःशल्यो व्रती' – ऐसी कहा है। तप–संयम में इच्छा का निरोध करना आवश्यक है, परन्तु देवों की इच्छा रुकती नहीं, उनकी सभी बातें प्रमाण लिये होती हैं। उदाहरणार्थ – देवों के जितने सागर की आयु होती है, उतने ही हजार वर्ष बाद भोजन की वाँछा भी उनके नियम से होती है; तब कण्ठ से अमृत झरता हैं, देवों के रोकने से रुक सकता नहीं। इसी प्रकार श्वासोच्छ्वास की मर्यादा होती है, वह भी आये बिना रहती नहीं है। – पृष्ठ ३३१

(१६०)

चर्चा :– केवलज्ञान के अनन्तवें भाग प्रमाण तो तत्त्वोपदेश का अर्थ दिव्यध्वनि में खिरता है, जितना केवलज्ञान में वस्तु का स्वरूप झलके वह सब तत्त्व का स्वरूप दिव्यध्वनि द्वारा कहने में नहीं आता, क्योंकि वचनवर्गणा की ऐसी सामर्थ्य नहीं है। अतः सर्वज्ञ के ज्ञान के अनन्तवें भाग मात्र जिनवाणी के अर्थ का प्रमाण जानना। उसके अनन्तवें भाग गणधरदेव झेलते हैं; और उसके भी संख्यातवें भाग परम्परागत आचार्य रचना करते हैं, ऐसा अर्थ जानना। – पृष्ठ ३०८

(१६१)

चर्चा :– जो अपने को कर्मों से बँधा हुआ माने, वह त्रिकाल में कर्मों से छूट नहीं सकता, और जो जीव अपने को अपनी भ्रमबुद्धि से बँधा माने, वह जीव कर्मों से छूट सकता है। जैसे कोई मतवाला पुरुष एक पाषाण के स्तम्भ से पुरुष की आशंका करके चिपट गया और उस स्थिति में वह

पाषाण तो ऊपर तो गया और वह पुरुष नीचे हो गया। जब वह पुरुष ऐसी दशा में बहुत खेद को प्राप्त हुआ तो पुकारने लगा कि अरे अधम पुरुष! अब मुझे छोड़ दे। मैं हारा और तू जीता। भाई! उसी प्रकार मोह-मदिरा पान करके वह संसारी अज्ञानी जीव अपनी भ्रमबुद्धि द्वारा परद्रव्य से ममत्वबुद्धि करके रागी द्वेषी होता है; और नाना प्रकार ज्ञानावरणादि अष्टकर्म से स्वयमेव बँधता है। फिर उसका विपाक-उदय आने पर बहुत खेदखिन्न होता है। श्रद्धान में भाव ऐसा वर्तता है, अन्यमती तो परमेश्वर को कर्त्ता मानकर निरुद्यमी हुआ-परमेश्वर करेगा सो होगा, मेरा कर्तव्य कुछ भी नहीं और यह जैनी कर्मों को कर्ता मानकर निरुद्यमी हुआ-कर्म करेगा, सो होगा, मेरा कर्तव्य कुछ भी नहीं, इसलिए ऐसे जीव का मोक्ष कैसे हो सकता है? श्री गुरु के उपदेश का निमित्त पाकर ऐसा साँचा श्रद्धान दृढ़ हो; कि मेरी अज्ञानता से मैं ही स्वयं परद्रव्यों में राग-द्वेष करके दु:खी होता हूँ। परद्रव्य मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं करता। मैं स्वयं ही राग-द्वेष को मेटकर सुखी हो सकता हूँ। - पृष्ठ ३१८

(१६२)

प्रश्न :- ऐसा कौनसा स्थान है, जहाँ से जीव आता तो है, किन्तु जाता नहीं?

उत्तर :- नित्य निगोद।

(१६३)

प्रश्न :- ऐसा कौनसा स्थान है, जहाँ जीव जाता तो है, किन्तु वापिस नहीं आता।

उत्तर :- सिद्ध क्षेत्र।

(१६४)

प्रश्न :- ऐसा कौनसा स्थान है जहाँ से जीव न तो आता ही है, और न जाता ही है?

उत्तर :- अलोकाकाश।

(१६५)

प्रश्न :– ऐसा कौनसा स्थान है, जहाँ से जीव आता भी है और जाता भी है?

उत्तर :– चारों गतियाँ।

(१६६)

प्रश्न :– ऐसा कौनसा स्थान है, जहाँ से जल जाता तो है, पर आता नहीं?

उत्तर :– पद्मादि द्रह।

(१६७)

प्रश्न :– ऐसा कौनसा स्थान है, जहाँ जल आता ही है, जहाँ से जाता नहीं?

उत्तर :– लवणोदधि समुद्र वा कालोदधि समुद्र।

(१६८)

प्रश्न :– ऐसा कौनसा स्थान है, जहाँ से जल न आवे और न जावे?

उत्तर :– अवशेष असंख्यात समुद्र।

(१६९)

प्रश्न :– ऐसा कौनसा स्थान है, जहाँ से जल जाता भी है और आता भी है?

उत्तर :– नदी, कूप, बावड़ी।

(१७०)

प्रश्न :– वर्द्धमान स्वामी के पाँच नाम किस प्रकार पड़े?

उत्तर :– वर्द्धमान स्वामी के – (१) वर्द्धमान (२) महावीर (३) सन्मति (४) वीर (५) महाधीर – ये पाँच नाम हैं। यहाँ **वर्द्धमान** और **वीर** ये दो नाम तो सौधर्म इन्द्र ने दिये हैं।

तथा चारण जुगल (युगल) मुनि के चर्चा में प्रश्न उत्पन्न हुआ, तब मन में यह विचार किया कि इसका उत्तर वर्द्धमान स्वामी से ही हो सकता है। परन्तु तुम हो सकल संयमी और वे असंयमी, अत: उसका विनय कैसे करोगे? और वर्द्धमान स्वामी तीर्थंकर पद का धारक सर्वोत्कृष्ट पदार्थ, सो वे हमको विनय कैसे करेंगे? तो भी एक बार तो नेत्र से देखेंगे। ऐसा विचार कर सन्मुख चले, जब दूर से ही तीर्थंकर के पास आये, तब ही प्रश्न का उत्तर उनके अतिशय से स्वयमेव हो गया। इसलिए इनका नाम मुनियों ने '**सन्मति**' दिया।

पुनश्च, सौधर्म इन्द्र ने सभा के मध्य में भगवान का बल सर्वोत्कृष्ट सराहा, तब एक कल्पवासी देव परीक्षा-निमित्त आया। उस समय भगवान अनेक देवों सहित वन में वृक्ष के ऊपर क्रीड़ा करते थे। तब वह देव महा बड़ा अजगर भयंकर सर्प (बनकर) वृक्ष से ऊपर चढ़ा। तब अन्य देव तो भयभीत हो भाग गये, और भगवान सर्प के माथे ऊपर पैर देकर खेलते रहे। तब उस देव ने प्रगट होकर भगवान की पूजा-स्तुति करके भगवान का नाम **महावीर** दिया।

पुनश्च, मुनि अवस्था के समय भगवान के ऊपर रुद्र ने बिना विचारे रात्रि में उपसर्ग किया। जब भगवान अकंप रहे। तब महादेव (रुद्र) ने अपनी विशेष निंदा करके **महाधीर** नाम दिया। इस प्रकार पाँच नाम दिए, जो धन्यकुमार चरित्र में कहा है। - पृष्ठ २५५

(१७१)

प्रश्न :- कैलाश पर्वत का नाम अष्टापद क्यों है?

उत्तर :- कैलाश पर्वत आठ योजन उतंग है और आठ ही उसके सिवाण (सीढ़ियाँ) हैं, इसलिए अपरनाम अष्टापद है। - पृष्ठ १९१

(१७२)

प्रश्न :- नारद की उत्पत्ति और उनके स्वरूप का विशेष वर्णन कीजिए?

उत्तर :- (नारद की उत्पत्ति और उसके स्वरूप या लक्षणों के सम्बन्ध

में प्रथमानुयोग के शास्त्रों में ऐसा वर्णन मिलता है कि) उत्तम कुल के सम्पन्न जीव तापस के व्रत धारण करते हैं, पश्चात् कारण पाकर दोनों (पुरुष-स्त्री) का संयोग होने पर व्यभिचार सेवन करने से उस तापसानी गर्भ से स्वर्ग से आया हुआ जीव नारद के रूप में जन्म लेता है। उसके बाद माता-पिता तो निर्ग्रन्थ गुरु का उपदेश प्राप्त करके जिनदीक्षा धारण करते हैं, अथवा पुत्र को छोड़कर आहार-पानी के निमित्त नगर में जाते हैं। इसी बीच में उस नारद बालक को कोई पूर्वभव का सम्बन्धी देव उठा ले जाता है, और वैताड्य पर्वत की गुफा में रखता है, कल्पवृक्षों से प्राप्त आहार द्वारा उसका भरण-पोषण करता है। जब वह आठ वर्ष का हो जाता है, तब उसे जिनधर्म का उपदेश देकर जैन बनाते हैं, देव-गुरु-धर्म की प्रतीति कराते हैं और आकाशगामिनी आदि विद्या देते हैं। फिर देव तो अपने ठिकाने चला जाता है और नारद दाढ़ी-मूँछ तथा सिर पर जटा रखकर तथा लँगोट, जनेऊ, पछेवड़ी रखता है।

तथा वह नारद महासुन्दर, कान्ति सहित, मनोज्ञ शरीर वाला होता है, बाल्यावस्था से लेकर आयु पर्यन्त ब्रह्मचारी रहता है और आकाशगामिनी विद्या के प्रभाव से ढाई द्वीप पर्यन्त गमन करने की सामर्थ्य वाला होता है। तथा नारायण-प्रतिनारायण-बलभद्र आदि बड़े-बड़े ढाई द्वीप के राजाओं द्वारा पूज्य होता है, और समस्त राजाओं के राजलोक में (रानियों के वास में) जिसको जाने की अटक (रुकावट) नहीं है। स्वयं तो (जिन) देव-गुरु धर्म के अतिरिक्त और को मानता नहीं अथवा पूजता नहीं, परन्तु मानकषाय के वश से अपने को तो स्वयं मुनि मानता है और दूसरों के द्वारा अपनी मुनि जैसी विनय करवाता है और यश-बड़ाई करवाता है। जो कोई स्त्री-पुरुष उसकी विनय करता है, उससे तो बहुत प्रसन्न होता है, नाना प्रकार की उत्कृष्ट-उत्कृष्ट सामग्री का मिलाप कराता है, और जो कोई विनय सत्कार नहीं करता, उससे विशेष दु:ख पाकर जिस-तिस प्रकार बुरा करता है और दूतकर्म द्वारा परस्पर कलह करवाकर हजारों-लाखों मनुष्य मरवा डालता है, पश्चात् ऐसी ही पापप्रवृत्ति के फलस्वरूप वह नियम से नर्क जाता है-नारद का ऐसा लक्षण जानना।

तथा रामचन्द्रजी के समय में जो नारद हुआ उसके माता-पिता तो राजा-रानी हुए और कृष्णजी के समय में जो नारद हुआ, उसके माता-पिता ब्राह्मण-ब्राह्मणी हुए। ऐसे ही यथायोग्य औरों का स्वरूप जानना। भरत व ऐरावत क्षेत्र में तो शाश्वत रूप से चौथे काल में ९-९ नारद उपजते हैं। **भावार्थ:-** हुण्डासर्पिणी बिना भी उपजते हैं, और सर्व विदेहक्षेत्रों में नहीं उपजे हैं।

(१७३)

चर्चा – वक्ता का लक्षण

वक्ता पुरुष शास्त्र के वांचन समय उंगली नहीं चटकावे, आलस नहीं लेवे (अंगडाई) पैर के ऊपर पैर नहीं रखे, उकडू नहीं बैठे, बहुत जोर से शब्दोच्चारण नहीं करे और मंद भी न बोले, भ्रम रूप शब्द भी नहीं बोले, जिनवाणी के लिखे शब्द को छिपावे नहीं, जिस शब्द का अर्थ स्वयं से निकलता न जाने, उसका अर्थ मान-बड़ाई के कारण अन्यथा न करे। जिनदेव को भुलावे नहीं, सभा में ऐसा कहे, ''इस शब्द का अर्थ हमारे समझ में नहीं आया।'' जिनदेव ने देखा, वह प्रमाण है – ऐसा अभिप्राय हो – इस विषय में हमारी बुद्धि तुच्छ है। उसके दोष से बुद्धि में तत्त्व का स्वरूप और से और कहने में आवे, अथवा श्रद्धान में आवे, तो मुझे क्षमा करो अभिप्राय तो मेरा ऐसा नहीं है। जिनदेव ने ऐसा ही देखा है, अत: मैं भी ऐसा ही धारण करता हूँ तथा ऐसा ही औरों को भी आचरण कराता हूँ, मुझे मान-बड़ाई लोभ आदिक का प्रयोजन नहीं है। ज्ञान की न्यूनता-वश सूक्ष्म अर्थ और से और मालूम हो, तो मैं क्या करूँ? अत: मुझसे गणधर देवों पर्यंत ज्ञान की सभी के न्यूनता है। इसलिए असत्य अथवा उभय मनोयोग वा वाचन योग कहा, सो ज्ञान तो एक केवलज्ञान सूर्य प्रकाशित है, वही सत्य है, उसकी महिमा वचन अगोचर है। केवली भगवान बिना और जानता ही नहीं है। अत: ऐसे केवली भगवान को मेरा बारम्बार नमस्कार है, भगवान मुझे बालक जानकर क्षमा करें, ऐसा वक्ता का स्वरूप जानना। – पृष्ठ १८१

(१७४)

चर्चा – वक्ता के पैंतीस गुण –

(१) कुल से उच्च होवे (२) सुन्दर शरीर हो (३) पुण्यवान हो (४) .... (५) अनेक मतों के शास्त्रों का पारगामी होवे (६) श्रोता के प्रश्न का शीघ्र ही अभिप्राय जानने में समर्थ हो (७) सभा चतुर हो (८) प्रश्न सहने में चतुर हो (९) आप बहुत शास्त्रों का वेत्ता हो (१०) युक्ति-जुक्ति मिलाने में प्रवीण होवे (११) लोभ से रहित हो (१२) क्रोध-मान-माया रहित हो (१३) उदार चित्त हो (१४) सम्यक् दृष्टि हो (१५) संयमी होवे (१६) शस्त्रोक्त क्रियावान हो (१७) शंका रहित हो (१८) धर्मानुरागी हो (१९) अन्यमत का खण्डन करने में समर्थ हो (२०) ज्ञान-वैराग्य का लोभी हो (२१) पर-दोष ढकने वाला हो (२२) धर्मात्मा के गुण का प्रकाशक हो (२३) अध्यात्म रस का भोगी हो (२४) विनयवान हो (२५) वात्सल्य अंग सहित हो (२६) पर उपकारी हो (२७) दातार हो। (२८) शास्त्र वांचकर शुभ का फल न चाहै (२९) अथवा इस लोक का फल न चाहै (३०) मोक्ष की ही इच्छा रखे (३१) दयालु चित्त हो (३२) सुजानपना हो (३३) वचन मिष्ट होवे (३४) शब्द ललित हों। इत्यादि गुण सहित हो सो ही वक्ता सराहने योग्य है।

(१७५)

चर्चा – श्रोता का लक्षण –

श्रोता के दृष्टान्तपूर्वक चौदह भेद कहे हैं। (१) माटी, (२) चलनी (३) छेनी (४) बिलाव (५) सुवा (तोता) (६) बक (बगुला) (७) पाषाण (८) सर्प (९) हंस (१०) भैंसा (११) फूटा घड़ा (१२) दंसमंसादिक (१३) जोंक (१४) गाय। ऐसे स्वभावधारि श्रोता उत्तम-मध्यम-अधम जानना। – पृष्ठ १८

(१७६)

चर्चा – अब उत्कृष्ट श्रोता का लक्षण कहते हैं –

(१) विनयवान (२) धर्मानुरागी (३) संसार के दु:खों से भयभीत (४) श्रद्धानी (५) बुद्धिवान (६) उद्यमी (७) मोक्षाभिलाषी (८) तत्त्वज्ञान का चाहक (९) भेदविज्ञानी (१०) परीक्षाप्रधानी (११) ज्ञानवान (१२) वैरागी (१३) दयालु (१४) क्षमावान (१५) नि:कपटी (१६) उदारचित्त (१७) प्रसन्न स्वभाव (१८) सौजन्य गुण सहित (१९) शीलवान (२०) स्व-पर का हेतुरूप अभिप्राय (२१) लाभ-गारव से रहित (२२) ठीक-ठीक बुद्धि होवे (२३) विचक्षण (२४) कोमल परिणामी (२५) प्रमाद से रहित (२६) सप्तव्यसन से रहित (२७) सप्तभय से रहित (२८) वात्सल्य अंग संयुक्त (२९) आठ मद से रहित (३०) आठ सम्यक्त्व गुण सहित होय (३१) अन्य धर्मों का आराधक न होय (३२) सत्यवादी हो (३३) जैनधर्म की प्रभावना विषय तत्पर होवे। (३४) गुरु आदिक के मुख से उपदेश सुनकर भयभीत हो। (३५) गुरु आदिक का उपदेश सुनकर एकान्त में बैठकर उपादेय करने का स्वभाव हो (३६) गुणग्राहक हो (३७) निज अवगुण का हेरू (देखनेवाला) हो (३८) वीज .... शृद्धि सादृश्य बुद्धि हो (३९) ज्ञान का क्षयोपशम सहित होय (४०) आत्मीक रस का आस्वादी हों (४१) निरोग शरीर हो, इन्द्रिय प्रबल न हो, आयुवृद्धि हो, वय तरुण हो, ऊँच कुल हो, सुन्दरतन हो, पुण्यवान हो, कंठस्पष्ट हो, वचनमिष्ट हों, आजीविका की आकुलता से रहित होय, गुरु के चरणों में भ्रमर समान तल्लीन हो, साधर्मी की संगति हो, साधर्मी से कुटुम्ब जैसा व्यवहार हो - इत्यादि गुणों सहित जानना।

पुनश्च नेत्र ताकडी (तराजु) कसौटी का पाषाण, दर्पण, इसी तरह श्रोता, सिद्धान्त रूप रत्न की परीक्षा के अधिकारी हैं। पुनश्च, श्रवण, ग्रहण, धारण, स्मरण, प्रश्न, उत्तर, निश्चय से आठ श्रोताओं के और गुण चाहिए। ऐसे श्रोता शास्त्र विषै सराहने योग्य हैं। सो ही मोक्ष का पात्र है, जिसकी महिमा इन्द्रादिक देव भी करते हैं। और महिमा करने वाले के पुण्य का बंध होता है, और उसका भी मोह गलता है। गुणवान की अनुमोदना करने से गुण को लाभ है। अवगुणवान की अनुमोदना करने से अवगुण का

लाभ है। अत: अवगुणवान की अनुमोदना किसी प्रकार नहीं करनी। गुणवान की अनुमोदना सर्व प्रकार करनी चाहिए।

पुनश्च; किया उपकार भूलना नहीं। गुरु आदिक आप से अधिक गुणी हो तो उनके होते शिष्य धर्मोपदेश नहीं देवे। यदि देता है तो वह दंड का पात्र है। तथा उपदेश उनके वचन को पोषण करने योग्य ही हों। कदाचित् गुरु के कहे उपदेश में किसी तरह का संदेह हो तो प्रश्न विनय सहित करे। तथा उनके उत्तर सुनकर नि:शल्य हो चुप रहे। बारम्बार गुरु के आगे वचनालाप नहीं करे। गुरु के अभिप्राय के अनुसार गुरु अपने सन्मुख होवे तब-तब प्रश्न करने रूप वचन बोले, ऐसा नहीं कि गुरु के पहले ही आप औरों को उपदेश देने लग जाये। **गुरु के पहले ही उपदेश का अधिकारी होना, यह तीव्र कषाय का लक्षण है। इसमें मान कषाय की मुख्यता है।** उत्तम शिष्य होवे तो वह अपना अवगुण काटे। पश्चात् अन्य को अवसर पाकर उपदेश दे। सो ही प्रमाण लिया है। – पृष्ठ २१

(१७७)

प्रश्न :– मूढ़ कितने प्रकार के होते हैं?

उत्तर :– मूढ़ तीन प्रकार के होते हैं – (१) देवमूढ़ (२) गुरुमूढ़ (३) शास्त्रमूढ़ तथा इनमें से प्रत्येक के सात-सात प्रकार हैं।

१. भावदेवमूढ़ – सर्व देव वन्दनीय हैं-ऐसे जिनके परिणाम हों, वे भावदेवमूढ़ हैं।

२. द्रव्यदेवमूढ़ – सभी देवों को पूजे, माने; वह द्रव्यदेवमूढ़ है।

३. परोक्षदेवमूढ़ – जिनके परिणाम कुल देवताओं को पूजने, मानने, नमस्कार करने के होते हैं। वे परोक्षदेवमूढ़ हैं।

४. प्रत्यक्षदेवमूढ़ – हरि-हरादिक देवों को पूजे, माने।

५. लोकदेवमूढ़ – चण्डी-मुण्डी-क्षेत्रपाल आदि देवों को पूजे, मनौती बोले, स्त्री-पुत्र-धन-पुत्रादि के निमित्त स्वयं पूजे और लोगों से पुजवावे। वह लोकदेवमूढ़ है।

६. **क्षेत्रदेवमूढ़** – यहाँ के चैत्यालय, देव-अरहन्त साक्षात् अथवा अपने घर में प्रतिष्ठित की पूजा-शुश्रूषा न करे; और दूसरे तीर्थादिक की पूजा वन्दना को जावे, घर का चैत्यालय अपूज्य रहे। वहाँ क्षेत्रदेवमूढ़ता है।

७. **कालमूढ़** – सुकाल की वेला (समय) छोड़कर पूजा करे, वह कालमूढ़ है, इति देवमूढ़ समाप्त।

अब गुरुमूढ़ को कहते हैं –

१. **कालगुरुमूढ़** – साक्षात्व्रतधारी, परन्तु मिथ्यादृष्टि हो, उसे गुरु माने।

२. **द्रव्यगुरुमूढ़** – जो व्रत, सम्यक्त्व से रहित हो, उसे गुरु बुद्धि से गुरु माने।

३. **परोक्षगुरुमूढ़** – जो कोई हमारे पूर्वज मानते आए हैं, उन्हें हम बड़ा क्यों न माने? ऐसा कहे।

४. **प्रत्यक्षगुरुमूढ़** – जो श्वेत-पीत-लाल वस्त्र सग्रन्थ जो प्रत्यक्ष दाम (धन) का संग्रह करे और महाचारित्र से रहित हो, उसे गुरुबुद्धि से माने।

५. **लोकगुरुमूढ़** – लोगों की देखा-देखी जो कुगुरु को माने और लोगों से कहे कि वे औरों से कैसे अच्छे नहीं हैं? औरों से तो अच्छे ही हैं – ऐसे भाव करना।

६. **क्षेत्रगुरुमूढ़** – चैत्यालय-देहरा में विराजे वीतराग, निर्ग्रन्थ गुरु की पूजा-वन्दना न करे, और अन्य गुरु को पूजे, माने सो क्षेत्रगुरुमूढ़ है।

७. **कालगुरुमूढ़** – जो गुरु नियत वेला को छोड़कर षड़ावश्यक क्रिया, आहार-व्यवहार में वर्ते और उसे जो माने, सो कालगुरुमूढ़ है।

अब शास्त्रमूढ़ को कहते हैं –

१. **भावशास्त्रमूढ़** – भावशास्त्र बारहवें गुणस्थान में होता है, सो भावशास्त्र कौन? शुक्लध्यान का दूसरा पाया एकत्ववितर्क अविचार भावशास्त्र

मूढ़ है। श्रुत-शास्त्र बहुत पढ़े, परन्तु शुद्धात्मा विषैं दृष्टि नहीं, वा षष्ठम गुणस्थानादि एकादश पर्यन्त सो भावशास्त्रमूढ़ कहते हैं।

२. **द्रव्यशास्त्रमूढ़ –** ग्यारह अंग का पाठी मिथ्यादृष्टि; यद्यपि सप्त तत्त्व, नव पदार्थ, षट् द्रव्य, पंचास्तिकाय, भेदा-भेद उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, द्रव्य-गुण-पर्याय, हेय-उपादेय किसी को भी न जाने, सो द्रव्यशास्त्रमूढ़ कहते हैं।

३. **परोक्षशास्त्रमूढ़ –** सूक्ष्म अध्यवसाय कैसे है?-जो तीनों योग से अगोचर होवे, तिनका वेत्ता नहीं। शुभाशुभ वेत्ता सो परोक्षशास्त्रमूढ़ है।

४. **प्रत्यक्षशास्त्रमूढ़ –**

पूजिज्जे अरिहंते पालिज्जे हिंसा विवज्जए धम्मो।
वंदिज्जे णिग्गंथो संसारे एतियं सारं।।

ऐसा पढ़े, कहे, प्रतीति न माने, पुरुष कुछ नहीं जानता, सो प्रत्यक्ष सूत्रमूढ़ है।

५. **लोकशास्त्रमूढ़ –** वंश के हेतु, धन के हेतु शास्त्र सुने। लोगों से कहे, पढ़े कि हरिवंश सुनने से वंश होता है, इत्यादि बहुत कार्य माने, सो लोकमूढ़ है।

६. **क्षेत्रशास्त्रमूढ़ –** जिस क्षेत्र में सप्तधातु, बत्तीस अन्तराय के उपद्रव्य हो, वहाँ सिद्धान्त-सूत्र पढ़े और स्त्री, नपुंसक को सुनावे, सो क्षेत्रमूढ़ है।

७. **कालशास्त्रमूढ़ –** जो सिद्धान्त-सूत्र आदि वेला (समय) समय नहीं पढ़े, काल-विरुद्ध पढ़े, सो कालमूढ़ है।

इस प्रकार देवमूढ़, गुरुमूढ़ और शास्त्रमूढ़ की व्याख्या समाप्त हुई।

(१७८)

प्रश्न :– लोक में किन-किन को देखकर कौन-कौन हँसते हैं?

उत्तर :– राजाओं को देखकर पृथ्वी हँसती है, धन के लोभी पर लक्ष्मी हँसती है, स्त्री की सावधानी रखने वाले पुरुष को स्त्री हँसती है, और राजवैद्य को काल हँसता है।

भावार्थ :- पृथ्वी के लिए राजा लोग कट-कट कर मर जाते हैं, पृथ्वी को अपनी मानते हैं, अपने राज्य को ध्रुव जानते हैं; परन्तु ऐसा विचार नहीं करते है कि यह पृथ्वी आगे किस-किसकी होकर रही? अब हमारे भी कैसे रहेगी? इसकी तृष्णा के लिये खेल करना वृथा है।

तथा धन के लोभी पुरुष भी ऐसा विचार नहीं करते कि इस लक्ष्मी का स्वभाव बिजलीवत् चंचल है, अथवा व्यभिचारिणीवत् सर्वगामी है। तीर्थंकर, इन्द्र चक्रवर्ती आदि बड़े-बड़े महन्तपुरुषों को भी छोड़कर चली जाती है तो हमारे कैसे रहेगी? और एक दिन में एक रूपया अपने हाथ से उतर कर कितने व्यक्तियों को मेरा-मेरा करके खाता है, फिर भी लोभीजन को कुछ सूझता नहीं।

तथा स्त्री के लिए यह पुरुष नाना प्रकार के पाप कार्य करके उसका समाधान करता है, और उसके शील के लिए सावधानी रखता है, परन्तु यह नहीं जानता कि वह स्त्री कामदेव जैसे पुरुष को छोड़कर कुबड़े, काले, कुरूप पुरुष का आलिंगन करती है, अथवा प्रीति से भोग भोगती है, फिर भला वह मेरी कैसे हो सकती है। वह अपना शील स्वभाव संभाले तो संभाले।

तथा राजवैद्य मन में ऐसा विचार करता है कि मैं पृथ्वी भर का इलाज करता हूँ, और मेरी जिलाई पृथ्वी जीती है-ऐसा अहंकार धारण करके गर्वित हो रहा है; परन्तु ऐसा नहीं अवलोकन करता कि यह काल तीन लोक के प्राणियों के भूतकाल में ग्रसीभूत कर चुका है; वर्तमान में प्रत्यक्ष कर रहा है, और भविष्य में भी करेगा, और अब तक जितने भी वैद्य हुए उन सभी को निगल गया तथा मुझे भी उस तरह निश्चित निगल जावेगा। ऐसी स्थिति में मेरा जिलाया अन्य प्राणी कैसे जियेगा और कैसे निरोग होगा? परन्तु क्या करें? यह जीव मोह-मदिरा से बावला हो रहा है, उससे कुछ सिद्धि नहीं। मोहभ्रम से जो कुछ समझ लेता है, वही बकने लगता है। अपने हित-अहित का विवेक नहीं, ऐसा प्रयोजन जानना।

– पृष्ठ २५०

(१७९)

चर्चा :– छह प्रकार के पुरुष लघुता एवं हास्य के पात्र होते हैं –

(१) बिना प्रयोजन जो बारम्बार हंसता है (२) दो जने एकान्त में गुप्त बात बतला रहे हों, उनके बीच आकर बैठे (३) स्त्रियों के समीप रहे (४) गर्दभ की सवारी करे, (५) संस्कृत के ज्ञान बिना संस्कृत का वक्ता होवे (६) दुष्ट पुरुषों से मित्रता करे। – पृष्ठ २४८

(१८०)

प्रश्न :– ग्यारह प्रतिमाधारी श्रावक कितने प्रकार के होते हैं?

उत्तर :– ग्यारह प्रतिमाधारी श्रावकों के तीन भेद हैं। पहली से छठी प्रतिमा तक के जघन्यश्रावक, सातवीं से नवीं प्रतिमा तक के मध्यमश्रावक और दसवीं-ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक उत्कृष्टश्रावक हैं। ग्यारहवीं प्रतिमा वाले क्षुल्लक व ऐलक बैठकर भोजन करें, खड़े होकर नहीं करें, लंगोट श्वेत अथवा लाल रखें, लंगोट की याचना नहीं करें तथा ग्यारहवीं प्रतिमा तक का कोई भी श्रावक आतापनयोग धारण नहीं करें। – पृष्ठ २६९

(१८१)

प्रश्न :– हुण्डावसर्पिणी काल का स्वरूप क्या है?

उत्तर :– असंख्यातासंख्यात कल्पकाल व्यतीत होने के बाद एक हुण्डाकाल आता है, वह पाँच भरत और पाँच ऐरावत में ही प्रवर्तता है, और उसकी दस कोड़ा-कोड़ी सागर की स्थिति है-उसे हुण्डावसर्पिणी काल जानना।

इस काल में निम्नांकित बातें विशेष होती हैं। यथा १. तीसरे काल में त्रेसठ शलाका पुरुषों की उत्पत्ति तथा मोक्षगमन, २. तीर्थंकर के पुत्री का होना, ३. मुनिदशा में तीर्थंकर पर उपसर्ग होगा, ४. चक्रवर्ती का मान भंग होना, ५. नारायण का मानभंग होना, ६. त्रेसठशलाका पुरुषों की संख्या कम हो जाना, (जैसे इस काल में ५८ ही हुए अर्थात् ५ कम हुए), ७. ब्राह्मण की उत्पत्ति, ८. जिनधर्म में भेद, ९. आठवें और सोलहवें

तीर्थंकरों के बीच में सात अन्तरालों में असंख्यात-असंख्यात काल पर्यन्त सात बार धर्म व्युच्छित्ति हुई, १०. पंचम काल में २१ कलंकी तथा २१ अर्द्धकलंकियों की उत्पत्ति, ११. विकलत्रय जीवों की विशेष उत्पत्ति, १२. मुनि-श्रावकादि संयमी पुरुषों की दुर्लभता, १३. अन्यमत का अधिकार, १४. जिनधर्म की गौणता, १५. राजा धर्म से विमुख। इस प्रकार हुण्डावसर्पिणीकाल के दोष से ये १५ बातें विशेष होती हैं।

– पृष्ठ २५६

(१८२)

प्रश्न :– हुण्डावसर्पिणीकाल के दोष से कौन–कौनसी बातें विपरीत होती हैं?

उत्तर :– यह हुण्डावसर्पिणीकाल असंख्यात (उत्सर्पिणी अवसर्पिणी) कालचक्र व्यतीत होने के बाद आता है। ढाई द्वीप के दश, भरत व ऐरावत क्षेत्रों में इसका प्रवर्तन होता है, अन्य विदेहादि क्षेत्रों में इसका जोर (प्रभाव) नहीं है-सो कहते हैं।

तीसरे काल में अतिवर्षादिक का निमित्त पाकर विकलत्रय जीव बहुत उत्पन्न होते हैं, कल्पवृक्ष विलीन होते हैं, कर्मभूमि की प्रवृत्ति होती है, इसी समय ऋषभदेव तीर्थंकर व भरत चक्रवर्ती उत्पन्न हुए। तथा चक्री या अर्द्ध चक्री की विजयभंग होती है, और मोक्ष थोड़े जीव जाते हैं। चक्रवर्ती के विकल्प होवे, ब्रह्मवंश की उत्पत्ति होवे, त्रेसठ शलाका पुरुषों में संख्या कम हो जावे। इस हुण्डावसर्पिणी में ५ शलाका पुरुष कम हुए अर्थात् ५८ ही हुए तथा प्रथम तीर्थंकर तो तीसरे काल में ही मोक्ष गये, इसलिए एक तो यह कम हुए, और प्रथम नारायण त्रिपष्ट का जीव पहले चक्रवर्ती भरत का बेटा मारीच था, सो वही प्रथम त्रिपष्ट नारायण होकर बाद में अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान स्वामी होकर अवतरित हुआ, सो एक यह कम हो गया, तथा तीन तीर्थंकर शान्ति, कुन्थु, अर, इनके तीन-तीन पदवी हुईं, यह तीनों ही तीर्थंकर-चक्रवर्ती और कामदेव हुए, इसलिए तीन यह घट गये, इस प्रकार पाँच कम हो गये। नवमें से लेकर सोहलवें तीर्थंकर पर्यन्त

बीच-बीच में सात बार क्रमश: पाव पल्य, आधा पल्य, पौन पल्य, एक पल्य, पौने पल्य, आधा पल्य, पाव पल्य इस प्रकार चार पल्य प्रमाण सर्वप्रकार से धर्म की व्युच्छित्ति हुई।

पश्चात् तीर्थंकर का अवतार होने पर पुन: धर्म की प्रवृत्ति आगे चली। ११ रुद्र तथा ९ नारद की उत्पत्ति; सातवें, तेईसवें, चौबीसवें तीर्थंकरों पर मुनि अवस्था में उपसर्ग हुआ। तीसरे, चौथे, पांचवें काल में कुदेव, कुगुरु, कुधर्म की बुद्धि होय, धर्म की हानि होय, तथा भील, चांडालादिक नीच कुल में उत्पन्न होने वाले, २१ हजार वर्ष के पंचम काल के अन्दर २१ कलंकी और २१ अर्द्धकलंकी, पाँच-पाँच सौ वर्ष के बाद होकर पृथ्वी के स्वामी होकर धर्म का नाश करेंगे। पाँच-पाँच सौ वर्ष के अन्तर से ४२ बार धर्म का विध्वंस होगा तथा अतिवृष्टि, अनावृष्टि, वज्रपात, अग्निपात इत्यादि इति-भीति होगी। यह कथन त्रिलोकप्रज्ञप्ति-शास्त्र में बुद्धिराजजी ने कहा है, वहाँ से विशेष जान लेना। अन्य भी अनेक विपर्यय हुण्डावसर्पिणी के दोष से होते हैं, सो अन्य सिद्धान्तों से ज्ञात करना। – पृष्ठ १५६

(१८३)

प्रश्न :– तेरापंथी परस्पर साधर्मी भाई को 'श्री जिनाय नम:' करते हैं, उसका अर्थ क्या है?

उत्तर :– सर्व मतों में व्यवहारप्रवृत्ति अथवा धर्मप्रवृत्ति में अपने इष्टदेव का स्मरण करते हैं, अत: जैनी भी अपने इष्टदेव को स्मरण करते हैं।

(१८४)

चर्चा :– तेरापंथ का अर्थ–

जितने मत हैं, वे या तो देव के नाम पर हैं, या गुरु के नाम पर हैं। (परन्तु जिनधर्म के साथ ऐसा नहीं है) अत: जो अरहन्त देव के उपरांत और देव को नहीं सेवता है, मात्र अरहंत को ही सेवता है। अत: हे जिनेन्द्र

देव! मैं तेरे पंथी होने से तेरी आज्ञानुसार चलता हूँ। तेरी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करूँ, तेरी आज्ञा हमारे मस्तक ऊपर तिष्ठती है। हमारे देव तुम ही हो।

पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति इन तेरह प्रकार के धारी दिगम्बर निर्ग्रन्थ वनवासी गुरु को मानते हैं और परिग्रही, विषयी भ्रष्ट गुरु को नहीं मानते हैं, अतः गुरु की अपेक्षा भी तेरापंथी कहते हैं। अथवा दिग् कहिए दशों-दिशा, अंबर कहिए वस्त्र, अतः जिस गुरु के दिशारूपी वस्त्र हैं, तिन ही का नाम दिगम्बर गुरु है। उन दिगम्बर गुरु का उपासक अर्थात् सेवक उसको दिगम्बर धर्म का धारक कहते हैं। अतः देव अरिहंत, गुरु निर्ग्रन्थ, धर्म जिनप्रणीत दयामय वीतराग, उसकी श्रद्धा, प्रतीति करे उसको ही दिगम्बर जैनी कहते हैं, अथवा सम्यग्दृष्टि कहते हैं। जो अपने निज आत्मा को पहिचानता है, भेदविज्ञान के बल से आपा-पर का स्वरूप भिन्न जाने, आप को आत्मा जाने, और शरीर पर्याय को पुद्गल का पिंड न्यारा जाने, अपना लक्षणादिक चिद्रूप ज्ञानमय जाने, शरीर को जड़ जाने, इत्यादि द्रव्य-गुण-पर्याय, उत्पाद-व्यय-ध्रुव से विशेष आपा-पर का स्वरूप परिणतिरूप भासे, उसको अध्यात्मी कहते हैं। **वह भी आत्मज्ञान के जानने वाले तेरापंथी में ही पाये जाते हैं,** क्योंकि जिनके देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा ही नहीं है, तो आपा-पर का जानना पना कहाँ से होगा। और देव-गुरु की श्रद्धा बिना तीन काल में आपा-पर का जानपना होता नहीं है। अतः तेरापंथी के ही देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा पायी जाती है, उनके ही व्यवहार सम्यक्त्व कहा है, तथा **व्यवहार सम्यक्त्व बिना निश्चय सम्यक्त्व कदाचित् भी नहीं होता है।** इस प्रकार से तेरापंथी का स्वरूप जानना।

– पृष्ठ २९१-२९२

(१८५)

पुनः प्रश्न :- इष्टदेव को स्मरण किया था तो दोनों हाथ खुले हुए रखकर मस्तक से लगाकर नमस्कार क्यों किया? या तो एक ही हाथ से किया होता या दोनों हाथों को परस्पर मिलाकर हाथ जोड़कर किया होता?

उत्तर :- एक हाथ से तो कर्म के नाते पुरुषों को नमस्कार करते हैं

और दोनों हाथ मिलाकर (जोड़कर) अरहंतदेव या निर्ग्रन्थ गुरु को करते हैं। सो यहाँ दोनों में से एक भी कारण नहीं है। यदि एक ही हाथ से विनय करें तो, कर्म के नाते के पुरुषों के समान ही साधर्मी का विनय ठहरा, साधर्मी से धर्म का नाता है, इसलिए कर्म के नाते वाले पुरुषों की अपेक्षा धर्म के नाते वाले का विनय अधिक चाहिए। यदि दोनों हाथ जोड़कर विनय करें तो देव-गुरु जैसा विनय हो गया, अत: दोष उत्पन्न होगा। यदि मात्र मुख से ही उच्चारण करें तो साधर्मी का विनय ही क्या हुआ? जिनमत में यथा-योग्य विनय करना कहा है, अधिक या हीन करना नहीं कहा, (इस कारण दोनों हाथ खुले हुए रखकर और मस्तक से लगाकर अभिवादन करने का प्रयोजन जानना।) - पृष्ठ २९३-९४

(१८६)

प्रश्न :- चौथे काल में स्नान करके ही भोजन करते थे, (अर्थात् भोजन करने से तुरन्त पहले स्नान करते थे और तब भोजन करते थे) परन्तु अब उसका निषेध क्यों? अर्थात् अब मात्र हाथ, पैर, मुख धोकर ही भोजन करने की परिपाटी क्यों? (यहाँ प्रात: स्नान करने का निषेध नहीं समझना चाहिए)।

उत्तर :- स्नान करने में तो किसी प्रकार का धर्म नहीं है। असंयमी पुरुषों का तो शाश्वत् मुख खुला है-किसी प्रकार उनकी जिह्वा इन्द्रिय को संवर (रांक) नहीं है। इसलिए स्नान करके भोजन करना हो तो कुछ काल तक जिह्वा इन्द्रिय वश में रहे। तुच्छ छने पानी की हिंसा की अपेक्षा इन्द्रियों के राग के भाव का पाप विशेष है। अस्पर्श्य शूद्र के स्पर्शादि क्रिया का भी पाप विशेष है, इसलिए भी स्नान करना। परन्तु इस वर्तमान पंचमकाल में स्नान की हिंसा प्रचुर बढ़ गई। अनछने जल से बार-बार अन्यमत के निमित्त से जैनी लोग भी ऐसे ही स्नान करने लगे, अत: अब इस काल में स्नान को बन्द किया और स्नान के स्थान पर हाथ-पैर-मुख ही छने जल से धोकर पवित्र करके भोजन करना, सो भी अल्पजल से शुचि करना। जिनधर्म का मूल एक दया ही मुख्यता से आदरणीय है। - पृष्ठ ३२७

(१८७)

प्रश्न :– किन–किन स्थानों का जल किन–किन वस्तुओं से अशुचि नहीं होता?

उत्तर :– समुद्र का जल तो सर्व द्वीपों की लाखों नदियों के जल से और संख्याते बड़े पंचेन्द्रिय जीवों के मरण से, नदी का जल दो–चार–दस बड़े पंचेन्द्रिय जीवों के कलेवर से अथवा एक–दो नगर के पानी आने से, कूप तथा बावड़ी का जल मछली आदि छोटे पंचेन्द्रिय जीवों के कलेवर से अशुचि और अलेन (लेने योग्य नहीं अर्थात् अपेय) नहीं होता है। परन्तु लोटा का जल कीड़ी–मछली आदि के संयोग से अशुचि हो जाता है।

भावार्थ :– बहु बलवान है। अशुचि वस्तु का बल थोड़ा हो और जल विशेष हो, तो अशुचि वस्तु जल को अशुचि नहीं कर सकती। ऐसे ही पुण्य–पाप आदि सर्व वस्तुओं के सम्बन्ध में जानना। जैसे उष्ण जल की एक बूंद शीतल जल के एक मटका पानी को उष्ण नहीं कर सकती और शीतल जल की एक बूंद उष्ण जल के एक मटका पानी को शीतल नहीं कर सकती, स्वयं उसी रूप से परिणम जायेगी – ऐसा सर्वत्र जानो।

– पृष्ठ १५४

(१८८)

प्रश्न :– पाप के स्थानों में कौन–कौन से स्थान अधिक तीव्र होते हैं?

उत्तर :– पाप के निम्न स्थान अनुक्रम से अनन्त–अनन्त गुने तीव्र होते हैं, अर्थात् प्रथम से द्वितीय में और द्वितीय से तृतीयादि में अनन्त गुना पाप अधिक होता है। (१) न्यायपूर्वक पाँचों इन्द्रियों के विषय सेवन करना (२) अन्यायपूर्वक पाँचों इन्द्रियों के विषयों का सेवन करना, (३) हिंसादिक पाँचों पापों का सेवन करना, (४) चारों कषायों को करना, (५) अज्ञानपूर्वक आचरण करना, (६) अगृहीत मिथ्यात्व का धारण तथा (७) गृहीत, मिथ्यात्व का सेवन करना।

– पृष्ठ ४२

(१८९)

प्रश्न :– एक दो आदि जीव की ही हिंसा करने पर वह जीव ऐसी नीचपर्याय में जाकर उत्पन्न हो कि; उसका तीन लोक वैरी हो जाये, और एक दो आदि जीव की रक्षा करने पर ऐसा फल उत्पन्न हो कि देवादिक पर्याय में जाकर सुख भोगते हुए तीन लोक का वल्लभ हो जाये, अर्थात् तीन लोक के जीव उसकी सेवा करना चाहें। सो इसका हेतु क्या है? न्याय तो ऐसा चाहिए कि जो जिसको दु:ख देवे, वही उसका बैर भी लेवे और जो जिसको सुख देवे वही उसका उपकार स्मरण करके उसकी सेवा करे। सर्व ही जीव सुख–दु:ख का सहकारी क्यों होना चाहिए?

उत्तर :– जिस जीव ने एक–दो जीवों को मारा, सो उसके सर्व ही जीवों को मारने के निर्दय परिणाम हो गये, परन्तु उसकी सामर्थ्य सर्व जीवों को मारने की नहीं थी, अत: अन्य जीव जो बच गये सो अपने पुण्य के अतिशय से बच गये। तथा एक–दो जीव की रक्षा की, सो इसका तो त्रिलोक के जीवों की रक्षा करने रूप दयालु परिणाम था, परन्तु इसकी सामर्थ्य नहीं तो यह क्या करे? और उसके पुण्य का उदय नहीं था, इसलिए कार्य सिद्ध नहीं हुआ। इसके परिणाम तो सर्व जीवों की रक्षा रूप हुए। अत: फल है, सो परिणामों का है – उसकी क्रिया का नहीं। इसलिए निर्दयी पुरुष के तो तीव्र पाप का बंध होता है, फलत: उसके उदय के समय उस उदय का निमित्त पाकर तीन लोक वैरी होता है; तथा दया परिणामों से महत् पुण्य का संचय होता है, और उस पुण्य के विपाककाल में शुभकर्म के उदय का कारण पाकर त्रिलोक के जीव इसके मित्र, सहकारी, दास होकर उसको सुख ही देना चाहते हैं – ऐसा अभ्यन्तर–बाह्य कारणकार्य का सम्बन्ध अनादिनिधन बन रहा है, जिसके निवारण करने को तीन लोक में कोई भी समर्थ नहीं है। इसलिए भव्य जीवों को अच्छे परिणाम करना और खोटे परिणाम छोड़ना योग्य है।

परिणामों से ही जीव का भला–बुरा होता है, इसलिए परिणामों की विशेष सावधानी रखना उचित है। बन्ध तो समय–समय होता है। एक

समय का बांधा संख्यात सागर पर्यन्त शाश्वता भोगना पड़ता है, और समय ऐसा सूक्ष्म है कि एक आँख फड़कने जितने काल में असंख्यात समय बीत जाते हैं, सो असंख्यात बार ही समयप्रबद्ध होता है इस प्रकार परिणामों की विचित्रता जानना। ऐसे ही मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, विषय के सेवने आदि परिणाम करने पर अनिष्ट फल लगता है। अत: कल्याणार्थी जीवों को प्रतिसमय इनके मन्द रखने का उपाय रखना चाहिए।

– पृष्ठ २९१

(१९०)

सामान्य रूप से अतिचार के चार भेद हैं :– (१) अतिक्रमण (२) व्यतिक्रमण (३) अतिचार (४) अनाचार।

(१९१)

चर्चा :– विद्या पढ़ने के दश कारणों के नाम –

बाह्य के पाँच – (१) आचार्य (२) पुस्तक (३) क्षेत्र (४) भोजन (५) सहायक।

आभ्यन्तर के पाँच – (१) निरोग शरीर (२) बुद्धि (३) उद्यम (४) विनय (५) ग्रन्थ से राग। – पृष्ठ १६

(१९२)

चर्चा :– छह काय की आयु का वर्णन

कठोर पृथ्वी की बाइस हजार वर्ष; नरम पृथ्वी की बारह हजार वर्ष; जल की सात हजार वर्ष; तेज (अग्नि) की तीन दिन; वायु की तीन हजार वर्ष; वनस्पति की दस हजार वर्ष; दो इन्द्रिय की बारह वर्ष; तीन इन्द्रिय की उनचास दिन; चतुरिन्द्रिय की छह मास; पंचेन्द्रिय की तैतीस सागर। ऐसी उत्कृष्ट आवली आयु जाननी। तथा जघन्य सभी की श्वांस के अठारहवें भाग जानना, परन्तु देव नारकियों को इसमें नहीं रखना।

– पृष्ठ १०

(१९३)

चर्चा :– छहकाय का आकार

पृथ्वी का मसूर अन्न (दाल) समान, जल का जल की बूंद समान, अग्नि का घनी सूइयां के समान वाले अग्रभाग से चौड़ा; वायु का लम्बी ध्वजा समान, वनस्पति तथा त्रस का अनेक आकार (समान) है।

– पृष्ठ १०

(१९४)

चर्चा :– छह काय के उत्कृष्ट कर्म की स्थिति बंध का वर्णन–

पंच स्थावर का एक सागर; द्वि–इन्द्रिय का पच्चीस सागर, त्रि–इन्द्रिय का पचास सागर, चौ–इन्द्रिय का सौ सागर; असैनी पंचेन्द्रिय का हजार सागर, सैनी पंचेन्द्रिय का सत्तरि कोड़ा–कोड़ी सागर; ऐसे कर्म तिसकी स्थिति जीव बांधता है। – पृष्ठ १०

(१९५)

चर्चा :– (एक जीव) एक अन्तर्मुहूर्त में ६६ हजार तीन सौ छत्तीस बार जन्म मरण कर सकता है

चार तो स्थावर – पृथ्वी, अप, तेज, वायु– इसके सूक्ष्म बादर करके आठ, निगोद सूक्ष्म, बादर करके दो प्रत्येक वनस्पति, इस तरह ग्यारह स्थान के विषय तो छह हजार बारह–छह हजार बारह भव करे। अब द्वि इन्द्रिय के अस्सी, तीन इन्द्रिय के साठ, चार इन्द्रिय के चालीस, असैनी पंचेन्द्रिय के आठ; सैनी पंचेन्द्रिय मनुष्य के आठ, ऐसे सत्रह स्थानों में जीव जन्म–मरण लेता है। एक श्वास के अठारहवाँ भाग आयु के धारक, और उसके श्वासोच्छवास छत्तीस सौ पचासी और एक का तीसरा भाग, और मुहूर्त के सैंतीस–सैंतीस हजार श्वासोच्छवास होते हैं। इस प्रकार एक जीव का उत्कृष्ट भ्रमण जानना चाहिए। – पृष्ठ ११

(१९६)

चर्चा :– पाँच इन्द्रिय विषय सम्बन्धी क्षेत्र का प्रमाण–

एकेन्द्रिय के स्पर्शन-इन्द्रिय का चार सौ धनुष प्रमाण; दो इन्द्रिय के रसना इन्द्रिय का चौसठ धनुष; तीन इन्द्रिय के घ्राणेन्द्रिय का सौ धनुष; चतुरिन्द्रिय चक्षु इनिद्रय के उनतीस सौ चौपन योजन; असैनी पंचेन्द्रिय के श्रोत्र इन्द्रिय का अठारह हजार धनुष; इसके एक योजन हुआ ऐसे एकेन्द्रिय आदि असैनी पर्यन्त दूना-दूना विषय पाँचों इन्द्रिय का जानना।

सैनी पंचेन्द्रिय के स्पर्शन, रसना, घ्राण इनका तो नव-नव योजन तथा चक्षु इन्द्रिय का सैंतालीस हजार दो सौ तिरेसठ योजन; सात योजन का बीसवां भाग, और श्रोत्र इन्द्रिय का बारह योजन ऐसे इतने-इतने क्षेत्र से दूरवर्ती पदार्थों को इन्द्रिय जानती है। इससे अधिक क्षेत्र को नहीं जानती हैं। - पृष्ठ १०

(१९७)

प्रश्न :- प्रथमोपशमसम्यक्त्व में आयु का बन्ध होता है या नहीं?

उत्तर :- प्रथमोपशमसम्यक्त्व में आयु का बन्ध नहीं होता।

- पृष्ठ ६९

(१९८)

चर्चा :- दसवाँ गुणस्थान का मरा जीव भी सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न होता है, और ग्यारहवाँ गुणस्थान का मरा जीव सौधर्म युगल से लेकर सर्वार्थसिद्धि तक उत्पन्न होता है।

- पृष्ठ ६७

(१९९)

चर्चा :- तीसरे काल के अन्त का उत्पन्न जीव तीसरे काल में भी मोक्ष जाता है। और तीसरे काल के अन्त में उत्पन्न चौथा काल के प्रारम्भ में मोक्ष जाता है। चौथा काल के अन्त में उत्पन्न पाँचवें काल में मोक्ष जाता है। पाँचवें काल में उत्पन्न पाँचवें काल में मोक्ष नहीं जाता है। यह सूत्र जी की सर्वार्थसिद्धि टीका में कहा है।

- पृष्ठ ६७

(२००)

प्रश्न :– प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ काल में पर्वत, नदी, वृक्ष, मन्दिर, हवेली का विस्तार इस वर्तमान पंचमकाल जैसा ही था या दीर्घ था?

उत्तर :– आगे के काल में सर्व ही कृत्रिम वस्तुओं का प्रमाण बड़ा था और विशेष या सर्व विशेष मनोज्ञ था। काल पाकर विस्तार, वीर्य, सुन्दरता घटती जाती है। फिर काल के पलटने पर सभी बातें अनुक्रम से बढ़ती जाती हैं। इस प्रकार काल की फिरनी से वस्तु के स्वभाव की भी फिरन सदैव शाश्वती होती है। यही पर्वत-वृक्षादि पहले बहुत दीर्घ थे और महामनोज्ञ रत्नमयी अथवा रत्नसमान थे-ऐसे ही सबका स्वरूप जानना।

– पृष्ठ ३०९

(२०१)

प्रश्न :– नित्य निगोद (चतुर्गति सूक्ष्म निगोद) से निकला जीव मनुष्य हो सकता है? मुनि हो सकता है? मोक्ष जा सकता है?

उत्तर :– नित्य निगोद चतुर्गति सूक्ष्मनिगोद से आये हुए जीव मनुष्य हो सकते हैं, सम्यक्त्व और देशसंयम को भी ग्रहण कर सकते हैं; परन्तु सकलसंयम (मुनिपना) ग्रहण नहीं कर सकते, अत: मोक्ष नहीं जा सकते।

– पृष्ठ २७०

(२०२)

प्रश्न :– नीच गोत्र और तीनों वेद का बन्ध कहाँ तक होता है?

उत्तर :– नीच गोत्र और तीनों वेद का बन्ध नवग्रैवेयकपर्यन्त होता है।

– पृष्ठ ३२०

(२०३)

प्रश्न :– संक्रमण का अर्थ क्या है और वह कितने प्रकार का है?

उत्तर :– संक्रमण नाम परिमाणों का है और वह दो प्रकार का है।

प्रथम स्वस्थानसंक्रमण और द्वितीय परस्थानसंक्रमण। जो परिणाम जिस लेश्यारूप था, वह परिणाम पलटकर उसी लेश्यारूप रहे उसे स्वस्थान संक्रमण कहते हैं, तथा जो परिणाम पलटकर अन्य लेश्यारूप हो जाये, वह परस्थानसंक्रमण कहलाता है, तथा परिणाम पलटता है, सो हानिरूप या वृद्धिरूप अनुक्रम से पलटता है – ऐसा जानना। – पृष्ठ २५७

(२०४)

प्रश्न :– १. सूक्ष्म, २. बादर, ३. पर्याप्त, ४. अलब्धपर्याप्त निगोदियां जीवों के शरीर में कितने निगोदिया जीव हैं?

उत्तर :– इन चारों ही निगोदियां जीवों के शरीर में न्यारे–न्यारे निगोदियां जीव सिद्धजीवों से अनन्त गुने एक–एक शरीर में तिष्ठते हैं।

– पृष्ठ ६७

(२०५)

प्रश्न :– लेश्या क्या है? भावलेश्या क्या है? कषाय क्या है? योग क्या है? भावलेश्या का साधन क्या है?

उत्तर :– जीव का स्पंदभाव लेश्या है। स्पंद का अर्थ है, जीव के परिणामों का चंचल होना। जीव के प्रदेशों का चंचल होना भावलेश्या है। वहाँ परिणामों का चंचल होना कषाय है, और प्रदेशों का चंचल होना, वह योग है। इसलिए योग और कषायों से भावलेश्या है, तातैं भावलेश्या का साधन मोहनीयकर्म का उदय, क्षयोपशम वा क्षय जानना। – पृष्ठ २६४

(२०६)

चर्चा :– लेश्याओं के २६ अंश होते हैं। छहों लेश्याओं के जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट के भेद से ६x३=१८ भेद हुए। तथा कापोतलेश्या के उत्कृष्ट अंश से आगे और पीतलेश्या के उत्कृष्ट अंश से पहले कषायों के उदयस्थानों में आठ मध्यम अंश हैं। इस प्रकार कुल १८+८=२६ अंश हुए। वहाँ आयुकर्म के बन्ध के योग्य आठ मध्यम अंश जानना। वे आठ मध्य अंश आठ अपकर्षकाल में सम्भावित हैं अर्थात् अपकर्षकाल में होते

हैं। वर्तमान में जो भुज्यमान आयु उसको अपकर्ष कहिये घटाय-घटाय आगामी परभव की आयु को बढ़ावै है, वह अपकर्ष है।

– पृष्ठ २५८

(२०७)

चर्चा :– तिर्यंच सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि तथा मनुष्य मिथ्यादृष्टि के अपर्याप्त अवस्था में तीन अशुभलेश्या ही होती हैं, जबकि सम्यग्दृष्टि मनुष्य के छहों लेश्यायें होती हैं। – पृष्ठ ७०

(२०८)

प्रश्न :– पीत–पद्म–शुक्ल, इन तीन लेश्याओं के धारक जीव कितने होते हैं?

उत्तर :– असंख्यात हैं। तथापि पीतवालों के संख्यातवें भाग, पद्मवाले और पद्मवालों के असंख्यातवें भाग शुक्ल वाले होते हैं। – पृष्ठ ३६

(२०९)

प्रश्न :– कृष्णादि छहों लेश्याओं के काल का प्रमाण किस भाँति है?

उत्तर :– नाना जीवों की अपेक्षा तो सर्वकाल है; और एक जीव की अपेक्षा छहों लेश्याओं का जघन्य काल तो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। उत्कृष्ट काल कृष्णलेश्या का ३३ सागर, नीललेश्या का १७ सागर, कापोतलेश्या का ७ सागर, पीतलेश्या का २ सागर, पद्मलेश्या का १८ सागर, शुक्ललेश्या का ३३ सागर है। यह उत्कृष्ट काल नारकी अथवा देवों की अपेक्षा कहा है। तिर्यंच और मनुष्य के छहों लेश्याओं का काल अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं है, तथा घातायुष्क की अपेक्षा बारहवें स्वर्ग पर्यन्त सम्यग्दृष्टि के आधा सागर और मिथ्यादृष्टि के पल्य के असंख्यातवें भाग आयु का प्रमाण अधिक है, अत: लेश्या का प्रमाण भी अधिक है, तथा दो-दो अन्तर्मुहूर्त पूर्व प्रमाण से और भी अधिक जानना, अर्थात् एक अन्तर्मुहूर्त तो अतीत पर्याय का और एक अन्तर्मुहूर्त अनागत पर्याय का है – ऐसा जानना। – पृष्ठ २६५-६६

(२१०)

चर्चा :– युगलिया तिर्यंच के अपर्याप्त अवस्था में अवधिज्ञान पाया जाता है, और सर्व तिर्यंच के तीन अशुभ लेश्या अपर्याप्त अवस्था में पायी जाती है, और सम्यग्दृष्टि तिर्यंच के अपर्याप्त अवस्था में कापोत लेश्या पायी जाती है। – पृष्ठ ७०

(२११)

प्रश्न :– छहों लेश्यावाले जीवों की संख्या कितनी–कितनी और किस अनुपात में है?

उत्तर :– सबसे थोड़े शुक्ललेश्या वाले जीव हैं, वे भी असंख्यात हैं। उनसे असंख्यातगुने पद्मलेश्या वाले जीव हैं। उनसे असंख्यातगुने पीत लेश्या वाले हैं। पीत वालों से अनंतगुने कापोतलेश्या वाले हैं। उनसे कुछ अधिक नीललेश्या वाले और उनसे भी कुछ अधिक कृष्ण लेश्या वाले जीव हैं। – पृष्ठ ३६७–६८

(२१२)

चर्चा :– द्रव्यत्व लेश्या अन्तराल विषैं तो सभी जीव के शुक्ल ही है, और अपर्याप्त विषै कापोत ही है, तथा पर्याप्त विषैं नाना जीव अपेक्षा से छहों ही होती हैं। – पृष्ठ ६८

(२१३)

चर्चा :– पद्म लेश्या वाला देव भी तीन स्थावरों में उत्पन्न होता है। यह गोम्मटसार के लेश्या मार्गणा के स्पर्श अधिकार में है। – पृष्ठ २८९

(२१४)

प्रश्न :– ४५ लाख योजन प्रमाण सिद्धक्षेत्र में सर्वत्र सिद्धात्मायें विराजमान हैं। वह सुमेरु की चूलिका का अग्रभाग चार योजन का है, उसके ऊपर रुचिक विमान बाल के अग्रभाग प्रमाण अन्तराल पर तिष्ठता है, वहाँ से तो उपसर्गकेवली भी मोक्ष नहीं जा सकते। ऐसी स्थिति में यह विधि कैसे मिले कि सिद्धक्षेत्र में सब जगह सिद्धजीव विराजमान हैं?

उत्तर :– प्रथम तो यह कथन सामान्य कथन है। कहीं तुच्छक्षेत्र में सिद्ध न पाये जावें तो भी बहु बलवान की अपेक्षा सर्वक्षेत्र में हैं – ऐसा कहा जाता है, और तारतम्य की अपेक्षा सर्वक्षेत्र में हैं – ऐसा कहा जाता है; और तारतम्य की अपेक्षा कथन करें तो सुमेरु में दस हजार योजन के भूव्यास में अनेक गुफायें कहीं है, सो उस चूलिका के तलभाग में भी गुफायें होवें तो वहाँ से मोक्ष जावें। अत: इस अपेक्षा से भी सर्वक्षेत्र में सिद्ध पाये जाते हैं – ऐसा जानकर सन्देह करने की कोई बात नहीं है। विशेष शास्त्रों में जान लेना। – पृष्ठ ३१०

(२१५)

प्रश्न :– कौन से जीव उत्कृष्टपने अच्युत स्वर्गपर्यन्त व ग्रैवेयक पर्यन्त जाते हैं?

उत्तर :– देशसंयत अथवा असंयत तिर्यंच–मनुष्य उत्कृष्टपने अच्युत स्वर्ग पर्यन्त उपजते हैं, तथा द्रव्य से तो जिनरूप महाव्रती और भावों से देशसंयत, असंयत अथवा मिथ्यादृष्टि ग्रैवेयक पर्यन्त जाते हैं।

– पृष्ठ २७२

(२१६)

प्रश्न :– अनुदिश व अनुत्तर विमानवासी देव आयु पूर्ण करके नारायण–प्रतिनारायण क्यों नहीं होते?

उत्तर :– इन विमानों के देव द्वि–चरमशरीरी होते हैं; इसलिए नारायण–प्रतिनारायण नहीं होते, क्योंकि वे दोनों तो नियम से नरकगामी होते हैं।

– पृष्ठ २७२

(२१७)

प्रश्न :– गत्यागत्य के संबंध में कोई विशेष चर्चा संक्षेप में बतलाइये?

उत्तर :– देव सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति में उत्पन्न नहीं होते। तथा सर्वार्थसिद्धि, लौकान्तिक, दक्षिण दिशा के छह इन्द्र, इन्हीं के २४ लोकपाल–सौधर्म–इन्द्र की शची (इन्द्राणी) – ये पाँच जाति के कल्पवासी नियम से

एक भवावतारी ही होते हैं। तथा नव-अनुदिश और पाँच अनुत्तर के देव मरकर नारायण-प्रतिनारायण नहीं होते-ऐसा जानना, यह कथन श्री वीरनन्दिकृत चारित्रसार ग्रन्थ में गत्यागत्य के वर्णन में कहा है।

– पृष्ठ २६९

(२१८)

चर्चा :– युगलिया जीव के पर्याप्ति काल में तीन शुभ लेश्या ही होती हैं। – पृष्ठ ६१

(२१९)

प्रश्न :– गिंजाई, जोंक, मक्षिका आदि सम्मूर्च्छन पंचेन्द्रिय पर्यन्त युगल परस्पर (संभोग क्रिया में) जुड़ते दिखाई देते हैं; सो यह तो सभी नपुंसक हैं, इनके मैथुन जैसी (यह) चेष्टा कैसे होती है?

उत्तर :– एकेन्द्रियादि सम्मूर्च्छन पंचेन्द्रिय पर्यन्त सभी नपुंसक वेदी ही हैं, परन्तु इनमें स्त्री-पुरुष से भी अधिक कामसंज्ञा तीव्र है। सो एकेन्द्रिय के तो कामवाञ्छा केवलज्ञानगम्य है, उसकी प्रवृत्ति इन्द्रियगोचर है नहीं; तथा दो-इन्द्रियादि पंचेन्द्रियों के बाह्यप्रवृत्ति पाई जाती है, उनमें लटादिक नपुंसक की कामसंज्ञा तीव्र है; वह परस्पर स्पर्श करके सुखी होते हैं, इसलिए परस्पर स्पर्श द्वारा भिड़ते हैं। किन्तु उनमें पुरुष-स्त्री के समान वीर्यनिपात का कार्य नहीं होता – ऐसा तात्पर्य जानना।

– पृष्ठ ३१३

(२२०)

प्रश्न :– आहारकशरीर इन्द्रियगोचर है कि नहीं?

उत्तर :– आहारकशरीर देवों के शरीर सदृश है; हाथ, पग, मस्तकादिक अंगोपांग उसके पाये जाते हैं; यदि सूक्ष्म होता तो तैजस कार्मण की भाँति अंग-उपांग से रहित होता; अतः इन्द्रियगोचर होने योग्य है, परन्तु उसका काल लघु-अन्तर्मुहूर्त है, इसलिए इन्द्रियगोचर होवे अथवा न भी होवे-ऐसा ज्ञान में आता है। फिर जिनेन्द्रदेव ने जो देखा है, सो प्रमाण है। शास्त्रों

में वर्तमान काल में देखने में नहीं आता है, हमने अपने अनुमान से लिखा है, अत: मम दोष नाहीं। – पृष्ठ ३०३

(२२१)

प्रश्न :– आहारकयोग, मन:पर्यज्ञान और परिहारविशुद्धिसंयम किस वेद के उदय होने पर नहीं हो सकते?

उत्तर :– उपर्युक्त तीनों ही स्त्रीवेद और नपुंसकवेद के उदय रहने पर नहीं हो सकते, पुरुषवेदी के ही होते हैं; और पुरुषवेदी के भी उन तीनों में से एक काल में एक ही होता है, युगपत् दोनों–तीनों नहीं होते–ऐसा नियम है। – पृष्ठ ६८

(२२२)

प्रश्न :– क्या कार्माणवर्गणा शरीर रूप भी परिणमन कर सकती है?

उत्तर :– हाँ, कार्माणवर्गणा शरीर रूप भी परिणमन कर सकती है।

(२२३)

प्रश्न :– परिहारविशुद्धि संयमियों की एक साथ होने वाली उत्कृष्ट संख्या अधिक से अधिक कितनी हो सकती है?

उत्तर :– परिहारविशुद्धि संयमियों की एक काल में एक साथ होने वाली उत्कृष्ट संख्या छह हजार नौ सौ सत्तानवे (६९९७) है।

– पृष्ठ ३६

(२२४)

चर्चा :– एक परमाणु से लगाकर उत्कृष्ट संख्यात–असंख्यात परमाणु अथवा स्कन्ध पर्यन्त तो शब्द–पर्याय की उत्पत्ति का नियम ही नहीं है। फिर सूक्ष्म अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध में भी शब्दपर्याय की उत्पत्ति नहीं होती – ऐसा नियम है। सूक्ष्म–बादर स्कन्ध आदि बादर–बादर स्कन्ध पर्यन्त चार जाति की पर्याय में ही शब्दपर्याय की उत्पत्ति होती है। शब्दपर्याय की उत्पत्ति स्कन्ध के परस्पर भिड़ने (टकराने) से होती है–ऐसा स्वरूप जानना। यह पंचास्तिकाय के आधार पर लिखा है।

वह शब्द दो प्रकार का है–प्रायोगिक और वैस्रसिक। जो शब्द पुरुषादि के संबंध से उत्पन्न हो, वह प्रायोगिक है, और जो घात आदि से उत्पन्न हो, वह वैस्रसिक है। अथवा वही शब्द भाषा–अभाषा के भेद से दो प्रकार का है। भाषात्मक भी अक्षर–अनक्षर के भेद से दो प्रकार का है। संस्कृत–प्राकृत–आर्य–म्लेच्छ भाषादि रूप जो शब्द हैं, वह अक्षरात्मक है, और दो–इन्द्रियादिक जीवों का जो शब्द है, वह एक प्रायोगिक है और एक वैस्रसिक है। प्रायोगिक तो तत्, वितत्, घन, सुषिर आदि रूप जानना तत् शब्द वह है जो जीवादिक से उत्पन्न है। वितत शब्द ढोल इत्यादि से जानना और जो झाँझ–ताल आदि से उत्पन्न हो, वह घन कहा जाता है, और जो वंशादिक से उत्पन्न हो वह सुषिर है। इन चार भेद रूप जानना, और जो मेघादि से उत्पन्न हो, वह वैस्रसिक भाषात्मक है।

–पृष्ठ ३१९

(२२५)

प्रश्न :– आकाश में शाश्वता अतिसूक्ष्म झंकार–शब्द अनेक जाति के वाजित्रों (बाजों) के शब्द–सदृश होता है, वह किसका है?

उत्तर :– सूक्ष्म बादर जाति का पुद्गल स्कन्ध श्रोत्र इन्द्रिय ग्राह्य शब्द रूप सदैव परिणमता है–उसका शब्द जानना। ज्योतिषी आदि देवों के वाजित्रों (बाजों) का शब्द नहीं है। ज्योतिषी देव तो यहाँ से ७९० योजन ऊपर तिष्ठते हैं, और कानों में उत्कृष्ट–शक्ति बारह योजन तक सुनने की है। अत: देवों के बाजों का शब्द यहाँ सुनना संभव नहीं है। इसी शब्द को अज्ञानी मिथ्यादृष्टि अन्यमती अनहद बाजा कहते हैं। – पृष्ठ २८९

(२२६)

चर्चा :– पर्याय दो प्रकार की हैं – १. द्रव्यपर्याय और २. गुणपर्याय। अनेक द्रव्य मिलकर जो पर्याय उपजै, वह द्रव्यपर्याय है और अनेक गुण मिलकर जो पर्याय उपजै वह गुणपर्यय है। द्रव्यपर्याय दो प्रकार की हैं – १. समानजातीय २. असमानजातीय। पुद्गल रूक्षसचिक्कण अंशों में मिल

जावे, उसे समानजातीय द्रव्यपर्याय कहते हैं। तथा जीव-पुद्गल का बंधरूप संयोग होता है, उसे असमानजातीय द्रव्यपर्याय कहते हैं। धर्मादि चार द्रव्यों में अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल में व्यंजनपर्याय नहीं है। पर्याय का स्वभाव उत्पाद-व्यय लिए है-इस अपेक्षा से धर्मादि चार में व्यंजनपर्याय नहीं है और अन्य अपेक्षा से धर्म-अधर्म का तीन लोक प्रमाण है, आकाश का लोकालोक प्रमाण है; काल का एक प्रदेशमात्र-अमूर्तिक अविभागी परमाणु है। - पृष्ठ २८९

(२२७)

चर्चा :- बारहवें गुणस्थान में शरीराश्रित अनन्त निगोदिया जीव स्वयमेव मरते हैं, पश्चात् सयोगी जिन तेरहवें गुणस्थान में निगोदियों से रहित शरीरवाले हो जाते हैं। - पृष्ठ ६४

(२२८)

चर्चा :- प्रथमोपशम सम्यक्त्व अथवा क्षयोपशम सम्यक्त्व अथवा अनंतानुबंधी चौकड़ी का विसंयोजन अथवा देशसंयम को पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण छोड़-छोड़ फिर ग्रहण करता है; और बाद में निर्वाण ही प्राप्त करता है।

(२२९)

चर्चा :- वनस्पति उत्पन्न होते समय अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त निगोदरहित प्रत्येक है, पश्चात् निगोदसहित साधारण होती है। - पृष्ठ ६४

(२३०)

प्रश्न :- काँजी में जीवों की उत्पत्ति किस क्रम से होती है?

उत्तर :- काँजी में चार प्रहर पश्चात् एकेन्द्री निगोद उत्पन्न होते हैं। छह प्रहर पश्चात् दो इन्द्रिय, आयु (आठ) प्रहर पश्चात् तीन इन्द्रिय, दश प्रहर पश्चात् चार इन्द्रिय और बारह प्रहर पश्चात् पंचेन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं। ऐसी काँजी को महादोष युक्त जानकर धर्मात्मा जीव को अवश्य छोड़ देना चाहिए। - पृष्ठ १५३

(२३१)

प्रश्न :– सम्मूर्छन जीव कहाँ–कहाँ उत्पन्न होते हैं?

उत्तर :– स्त्री की योनिस्थान में, काँख में, आँचलतले, नाभि में तथा मल–मूत्र में और पुरुष के मल–मूत्र, मुर्दा शरीर में तथा अन्य अशुचि स्थानों में होते हैं। – पृष्ठ ३०

(२३२)

प्रश्न :– क्या त्रसनाली के बाहर भी त्रसजीव का अस्तित्व पाया जाता है?

उत्तर :– हाँ, पाया जाता है। वह तीन अवस्थाओं में अर्थात् तीन प्रकार से पाया जाता है। १– केवलिसमुद्घात के समय केवली के आत्मप्रदेश समस्त लोक में फैलते हैं, तब वे त्रसनाली के बाहर चले जाते हैं। २– मारणान्तिक समुद्घात के समय भी जीव के प्रदेश त्रसनाली से बाहर चले जाते हैं। इस प्रकार यह दो तो त्रसनाली से बाहर जाते समय की विधियाँ हुई; और नं० ३–जब त्रसनाली से बाहर का एकेन्द्रिय जीवन मरकर त्रसपर्याय धारण करता है। तब उसे त्रसनाली में आना होता है, ऐसी दशा में वह अपने उत्पाद का प्रथम एक समय त्रसनाली के बाहर ही व्यतीत करके दूसरे समय में त्रसनाली में आ पाता है, उसे एक समय बाहर से त्रसनाली में गमन करके आने में लग जाता है, उस एक समय में वह त्रसजीव ही है, क्योंकि एकेन्द्रियपना तो आयु के अन्त में समाप्त हो चुका है। इस प्रकार यह तीसरी विधि बाहर से अन्दर आने की हुई। इस तरह तीन प्रकार से त्रसनाली से बाहर त्रसजीवों का अस्तित्व पाया जाता है।

– पृष्ठ ३०७

(२३३)

प्रश्न :– चारों अनुयोगों में किसकी मुख्यता से किस प्रकार का कथन है?

उत्तर :– प्रथमानुयोग में अलंकार की मुख्यता है, करणानुयोग में

गणित की, चरणानुयोग में नीति (सुभाषित) की, तथा द्रव्यानुयोग में तर्क (न्याय) की मुख्यता है। तथा छठे गुणस्थान में मुनि के सर्व कषायों का त्याग कहा, सो वह चरणानुयोग की अपेक्षा से कहा है, तथा ग्यारहवें आदि गुणस्थानों में कषायों का और हिंसा का त्यागी कहा, सो वह करणानुयोग की अपेक्षा कहा है। करणानुयोग में तो केवलज्ञान के जानपने की मुख्यतारूप तारतम्य को लिए हुए हैं; और चरणानुयोग में अपने आचरण की मुख्यता लिए है, इसी प्रकार अन्य सभी स्थानों में जिस विवक्षा से शास्त्र में कथन किया हो, उसे उसी विवक्षा से समझें। – पृष्ठ १६३

(२३४)

चर्चा :– लोकपूरण समुद्घात के समय आत्मा के प्रदेश समयोग के अविभाग प्रतिच्छेद को धारते हैं; अर्थात् और बार (अन्य समय) प्रतिच्छेदों में घट-बढ़ होती रहती हैं। – पृष्ठ ६९

(२३५)

प्रश्न :– एक ही काल में अधिक से अधिक कितने समुद्घात केवली हो सकते हैं?

उत्तर :– एक ही काल में समुद्घात केवली उत्कृष्ट चालीस हो सकते हैं। जिनमें से बीस तो समुद्घात करने वाले (प्रसार करने वाले) और बीस ही समेटनेवाले हो सकते हैं। इससे अधिक नहीं। इस प्रकार चालीस हो सकते हैं। – पृष्ठ ३७

(२३६)

चर्चा :– नरक से आए मनुष्य के तीन अशुभ लेश्या के अपर्याप्ति में वेदक सम्यक्त्व अथवा अवधि होती है। छठी भूमि पर्यन्त के निकलने वाले के ऐसा जानना। – पृष्ठ २८९

(२३७)

चर्चा :– वेदनीय-नाम-गोत्र इन तीन कर्मों के बराबर आयुकर्म की स्थिति हो, तो केवली भगवान के समुद्घात नहीं होता – चारों अघातिया

कर्मों के निषेक समय-समय अनुक्रम से उदय देकर खिरते हैं, और जिस केवली भगवान के तीन अघातिया कर्मों की स्थिति तो अधिक हो; और आयुकर्म की स्थिति थोड़ी हो तो समुद्घात होता ही है। समुद्घात करके आयुकर्म के बराबर तीनों अघातिया की स्थिति आकर ठहर जाय, फिर वे निषेक चारों कर्मों के उदय होकर खिरते हैं। यह कथन पंचास्तिकाय जी के पूर्ण होते मोक्ष तत्व के कथन में कहा है। विशेष कथन क्षपणासार जी में पूर्ण होते हुए गुणस्थान के कथन में कहा है।

– पृष्ठ ३१९

(२३८)

प्रश्न :– तिर्यंच के अवधिज्ञान का उत्कृष्ट क्षेत्र कितना है?

उत्तर :– असंख्यात द्वीप समुद्र पर्यन्त है।

(२३९)

प्रश्न :– विदेह क्षेत्र में वर्षा का ब्यौरा बताइये?

उत्तर :– विदेह क्षेत्र में सात प्रकार के काले बादल और बारह प्रकार के श्वेत बादल कुल उन्नीस प्रकार के बादल हैं, वे मेघ होकर बरसते हैं। प्रत्येक बादल सात-सात दिन बरसता है अर्थात् १३३ दिन (लगभग साढ़े चार महीने) बरसते हैं। – पृष्ठ ५८

–(२४०)

प्रश्न :– सूर्य का आताप उसके ऊपर की दिशा में कहाँ तक फैलता है?

उत्तर :– सौ (१००) योजन ज्योतिषमण्डल तक ही ऊपर फैलता है, उससे ऊपर नहीं फैलता है। – पृष्ठ ४३

(२४१)

प्रश्न :– सात समुद्घात के धारी जीवों के प्रदेश कैसे-कैसे फैलते हैं?

उत्तर :– आहारक समुद्घात और मारणान्तिक समुद्घात इन दो के धारक जीवों के प्रदेश तो एक ही दिशा में फैलते हैं। और शेष पाँच समुद्घात करने वाले जीवों के प्रदेश यथायोग्य दशों दिशाओं में फैलते हैं।

– पृष्ठ १५८

(२४२)

चर्चा :– साता–असाता वेदनीय के उदयकाल में रति–अरति नोकषायों का भी उदय पाया जाता है।

भावार्थ :– शास्त्रों में ऐसा भी कहा है कि साता वेदनीय को तो रति कषाय कारण है अर्थात् सहचारी है। असाता के उदयकाल में रति का उदय होवे ही होवे। असाता के उदय काल में अरति कषाय का उदय होवे ही होवे। अत: यह कथन मुख्यरूप से जानना, तारतम्यता की अपेक्षा तो साता–असाता के उदयकाल में रति और अरति दोनों का उदय पाता जाता है। यह कथन लब्धिसारजी में क्षयोपशम को आदि लेकर पाँच लब्धियों के कथन में आठ कर्म के युगपद् उदय अपेक्षा भंग किया–उसमें लिखा है।

– पृष्ठ २९६

(२४३)

प्रश्न :– छहों पर्याप्तियों के पूर्ण होने का काल क्या है?

उत्तर :– प्रथम–प्रथम पर्याप्ति के काल से उत्तर–उत्तर पर्याप्ति का काल संख्यातवें–संख्यातवें भाग अधिक है। यथा – आहार पर्याप्ति का काल अन्तर्मुहूर्त–प्रमाण है, उससे संख्यातवें भाग अधिक शरीर पर्याप्ति का काल है, उससे संख्यातवें भाग अधिक इन्द्रिय पर्याप्ति का काल है, उससे संख्यातवें भाग अधिक श्वासोच्छवास पर्याप्ति का काल है, और उसके संख्यातवें भाग अधिक भाषा पर्याप्ति का काल है। उससे भी संख्यातवें भाग अधिक मन:पर्याप्ति का काल है। और छहों पर्याप्तियों काल को एकत्र करें तो भी अन्तर्मुहूर्त–प्रमाण ही है, क्योंकि अन्तर्मुहूर्त के भेद बहुत हैं– ऐसा अनुक्रम से जानना। – पृष्ठ २६

(२४४)

संसारी जीव सदाकाल चार प्राणों से जीता है, जिया है और जीवेगा, ऐसा कथन द्रव्यसंग्रहजी तथा अन्य सर्वशास्त्रों में कहा है।

यहाँ प्रश्न है कि :– एकेन्द्रिय अपर्याप्त अवस्था में श्वासोच्छ्वास बिना तीन ही प्राणों से जीता है और समुद्घातकेवली के अपर्याप्त अवस्था में कायबल और श्वासोच्छवास ये दो प्राण होते हैं। तथा अयोगकेवली के एक आयु प्राण ही है। सो यह कैसे संभव है?

उत्तर :– यह सामान्य कथन है और गुणस्थानों की अपेक्षा तारतम्य विशेष है – ऐसा तात्पर्य जानना। – पृष्ठ ३१८

(२४५)

प्रश्न :– आत्मा ही के ध्यान से मोक्ष होना कहा, उसका कारण क्या है? मोक्ष तो एक वीतराग भावों से होता है, वह वीतराग भाव किसी भी कारण से होना चाहिए, एक आत्मा ही के ध्यान का क्या प्रयोजन?

उत्तर :– तुम्हारा यह तर्क सत्य है, क्योंकि वीतराग भावों से ही मोक्ष होता है, इसमें सन्देह नहीं; परन्तु वह वीतरागभाव, कारण के बिना नहीं होता – यह नियम है।

जैसे एक लोहे के गोले को अग्नि में डाल दें तो वह लोहे का गोला उष्ण हो जाएगा, फिर उसे अग्नि में से निकालकर पुन: अग्नि में ही डाल दें तो त्रिकाल में भी उष्णता को छोड़कर शीतलता को प्राप्त नहीं होगा। यदि उस गोले को अग्नि में से निकालकर सूर्य के ताप में रख दें तो सर्वांश में शीतल नहीं हो सकता, किंचित् उष्ण तो रहेगा ही। यदि उसी उष्ण गोले को जल में डाल दें तो तत्काल अन्तर्मुहूर्त में शीतल हो जायेगा।

इसी प्रकार आत्मा चिद्रूपपिण्ड के उपयोग को कषायों के कारण पुत्र, पुत्री, स्त्री, धन, शरीरादि अशुभ कारणों में लगावे तो तीव्र कषाय उत्पन्न होगी, और उस उपयोग को हटाकर पुन: पुन: उन्हीं भोग की सामग्रियों में लगावे तो त्रिकाल में भी कषाय शान्ति नहीं होगी। यदि उनके स्थान पर

देव-गुरु-धर्म-दान-तप-शील-संयम-त्याग-पूजा-दया आदि में परिणाम लगावे तो मन्दकषाय होगी, और षट् द्रव्य, नवपदार्थ, सप्त-तत्त्व, पंचास्तिकाय, गुणस्थान, मार्गणास्थान कर्मकाण्ड का चिन्तवन करे तो विशेष अत्यन्त मन्दकषाय होगी, और आत्मा के गुण-पर्याय के चिन्तवन में उपयोग लगाने से परम शुक्ललेश्या होगी, और यदि सबका अभाव करके आत्मा का अभेदरूप अवलोकन करें तो सर्वप्रकार वीतराग भाग होंगे। वीतराग भावों से मोक्ष होता है।

तथा और भी कहते हैं - इसी संसार के अनित्यपने का उपदेश, **जिनवाणी का उपदेश कोई तीव्र कषायी भेषधारी दें तो अंशमात्र धर्मबुद्धि नहीं होवे, अपितु मोह ही बढ़े, और अव्रती श्रद्धानी का अभवा देशव्रती, सकलव्रती, ऋद्धिधारी मुनि, सामान्यकेवली, तीर्थंकर का उपदेश सुने तो अनुक्रम से विशेष अधिक ज्ञान वैराग्य भावों की विशुद्धता हो,** वही गोम्मटसारजी में कहा है। केवली या श्रुतकेवली के चरणों के निकट ही मनुष्य को क्षायिक सम्यक्त्व अथवा तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध की प्राप्ति होती है। मोह अत्यन्त मन्द हो, तब यह कार्य सिद्ध हो; सो ऐसे परिणामों की विशुद्धता अन्य स्थान में नहीं होती। इसलिए चिद्रूप की ऐसी अद्‌भुत दशा सुन्दराकार तेज प्रभा को लिए वीतराग ज्ञानानन्दमय अद्वैत दशा है, जिसकी नाममात्र भी गुणों की महिमा सुने तो अद्‌भुत प्रिय लगे, अत्यन्त सुख उत्पन्न हो। विशेष मन्द कषाय हो तो साक्षात् ध्यान करने पर सर्व मोह गल ही जावे; तथा मोह के गलने से केवलज्ञान केवलदर्शन आत्मा में, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय के नाश से प्रकट हो और अन्तराय के नाश से अनन्तवीर्य, अनन्त सम्पूर्ण सुख उत्पन्न हो। अत: जैसा कारण मिले, वैसा कार्य सिद्ध हो। अन्ततोगत्वा यह बात सिद्ध हुई कि; एक आत्मा के ध्यान से ही सिद्धि है, अन्य प्रकार से नहीं-नहीं-नहीं। इसलिए आत्मा के लाभार्थियों को चाहिए कि वे आत्मा ही का स्मरण, आत्मा ही का अवलोकन श्रद्धापूर्वक करे अर्थात् उसी से आत्मा का लाभ मानें।

यहाँ पुन: प्रश्न है कि - आत्मा का ही ध्यान करना था तो केवली

भगवान का किया होता, वे तो सर्वज्ञ हैं, स्वयं तो छद्मस्थ और किंचित् ज्ञानी है, अत: उन (सर्वज्ञ) जैसा अतिशय अपना कैसे होगा?

उसे फिर समझाते हैं कि भाई! वे (सर्वज्ञ) परद्रव्य हैं और परोक्ष हैं, तथा आप तो स्वद्रव्य है और कोई प्रकार प्रत्यक्ष भी है; और अपने ज्ञान सुख-कषाय-नि:कषाय परिणामी का भोक्ता है, अपनी निज महिमा से विराजमान है, इसलिए एक निज-आत्मा के ध्यान से ही सिद्धि है। जैसे लोक में भी यह देखा जाता है कि; अपनी थोड़ी सी भी विभूति हो तो उसका तो विशेष अनुराग होता है और पराये घर देव समान भी विभूति हो तो उसकी (विभूति) से प्रीति नहीं होती। इसी प्रकार स्व अथवा परवस्तु में अनुराग को अधिक अथवा हीन भाव क्रमश: होता है। वैसे ही परमात्मा के ध्यान में और स्वात्मा के ध्यान में परिणामों की विशुद्धता का भेद जानना। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि हे तार्किक! तू सर्व प्रकार निज आत्मा के ध्यान में ही बुद्धि को लगा, पर का ध्यान छोड़। तुझे अवश्य ही निजात्मा के ध्यान से आत्मलाभ होगा-आत्मसुख होगा। यह आशीर्वाद श्रीगुरु ने दिया है। – पृष्ठ ३१०-३१२

(२४६)

प्रश्न :– अष्टाह्निका के व्रत का एक-एक दिन का फल लाखों उपवास कहा है – सो कारण क्या है? अन्य दिनों में ऐसा विशेषफल क्यों नहीं होता?

उत्तर :– यह धर्मपर्व है, अत: इन दिनों में धर्मसाधन किये विशेषफल होता है, और पाप किया जाये तो उसका निकृष्टफल भी अन्य दिनों की अपेक्षा विशेष अधिक होता है, ऐसा ही कोई काल का कारण अनादि का है, किसी का किया हुआ नहीं है। जैसे वर्षाऋतु में बोया गया अनाज ज्वार-बाजरा आदि यदि ग्रीष्मऋतु में बोया जाये तो तुच्छ (अल्प) उपजै और आषाढ़ में बोवै तो बहुत उपजै, और शीतकाल का अनाज शीत में बोया जाये तो विशेष फल दे और प्रतिकूल मौसम में बोया जाए तो तुच्छ फल उपजै। वैसे ही चौथे काल में धर्मसाधन किया हुआ केवलज्ञानपर्यन्त

फल देवै और पंचम काल आदि अन्य कालों में विषय किया धर्मसाधन भी तुच्छ फल देवै। इसी तरह अष्टाह्निका आदि पर्वों में धर्मसाधन का फल विशेष मिलै और पाप सेवन का फल भी विशेष मिलै, इसलिए धर्मपर्व में अवश्य धर्मसेवन करना तथा सावद्ययोग का त्याग भी अवश्य करना।

– पृष्ठ ३३१

(२४७)

प्रश्न :– व्यवहारकाल का स्वरूप क्या है?

उत्तर :– जघन्ययुक्ता असंख्यातकाल की एक आवली, संख्यातआवली की एक निमिष, पन्द्रह निमिष का एक काष्ठा, बीस काष्ठा की एक कला, बीस कला की एक घड़ी, दो घड़ी का एक मुहूर्त, तीस मुहूर्त का एक दिन-रात, ३६६ दिन का एक वर्ष इस प्रकार एक मुहूर्त की लव १२००० और एक वर्ष के मुहूर्त १०९८० होते हैं तथा एक मुहूर्त में जघन्य श्वासोच्छवास ७२० और उत्कृष्ट ३७७३ होते हैं।

– पृष्ठ १४८

नोट :– जहाँ वर्ष में ३६० दिन माने गए हैं, वहाँ १०८०० मुहूर्त एक वर्ष में कहे हैं।

(२४८)

प्रश्न :– एक वर्ष में कितने मुहूर्त होते हैं?

उत्तर :– एक वर्ष में दस हजार आठ सौ (१०,८००) मुहूर्त होते हैं।

(२४९)

चर्चा :– उन्नीस प्रकार के माप (प्रमाण) का वर्णन–

(१) अवसनासन (२) सनासन (३) तटरेणु (४) त्रसरेणु (५) रथरेणु (६) उत्तम (७) मध्यम (८) जघन्य भोगभूमि और (९) कर्मभूमि-इन चारों के बाल के अग्र भाग (१०) लीख (११) सरसों (१२) जौ (१३) उच्छेद अंगुल।

अवसनासन से लगाकर अनुक्रम से उच्छेद अंगुल पर्यन्त आठ-आठ गुना है। तथा अवसनासन नाम का स्कन्ध अनंत परमाणु का है। और उच्छेद अंगुल से पाँच सौ गुणा (१४) प्रमाणांगुल है उससे चौबीस गुणा (१५) हाथ है, चार हाथ का (१६) धनुष है, दो हजार धनुष का (१७) कोस है, चार कोस का (१८) योजन और असंख्यात योजन का (१९) राजू - ऐसे उन्नीस भेद जानना। - पृष्ठ ७

(२५०)

चर्चा :- गोम्मटसार जी में पाँच बातों का मुख्य कथन है।

ये पाँच बातें (१) बंधक (२) बंधीमान (३) बंधस्वामी (४) बंध-हेतु (५) बंध भेद। ये पाँचों सिद्धान्त के अर्थ हैं। इससे ही इसका नाम पंच-संग्रह है। तथा गोम्मटसार नाम है, सो गोम्मटस्वामी जी, जो आदिनाथ भगवान का नाम है। उनके चैत्यालय में ग्रन्थ का अवतार हुआ, अतः दूसरा नाम गोम्मटसार दिया है। यह गोम्मटसार जी, धवल शास्त्र के अनुसार तथा महाकर्म प्रकृति प्राभृत नाम जिसका ऐसा अग्रणी पूर्व का पाँचवाँ वस्तु नाम अधिकार उसके अनुसार वर्णन किया है। धवल शास्त्र के कर्ता जिन-भूतबलि आचार्य हैं।

पुनश्च यह गोम्मटसारजी, गंगवंश में उत्पन्न राजमल महाराजा उसका मंत्री चामुण्डराय के प्रश्न के निमित्त पाकर इसका अवतार हुआ है। तथा नेमीचन्द्र आचार्य ने तो मूल प्राकृतगाथा में पद लिखे, जिसमें अर्थसमूह भरा। और उसके पीछे उसकी कर्णाटकी टीका भाषामय राजा चामुण्डराय ने बनायी। उसके अनुसार संस्कृत टीका अठारह हजार (श्लोक प्रमाण) केशव वर्णी क्षुल्लक श्रावक ने बनायी, उसके अनुसार ढूढांड प्रदेश के सवाई जयपुर नगर उसमें तेरापंथ देहरा के टोडरमलजी बड़े पुण्यवान श्रेष्ठी अव्रती सम्यग्दृष्टि न्यायव्याकरण, छंद अलंकार, गणित आदि शास्त्र के पारगामी, विशेष तत्वज्ञानी, आत्म-अनुभवी बड़े अध्यात्मी लब्धिसारजी क्षपणासारजी सहित गोम्मटसारजी इन तीनों की टीका हजार इक्यावन ग्वालियरी भाषामय वचनिका ऊपर गाथा, नीचे बाकी संस्कृत टीका के अनुसार भाषा टीका

बनाई। उसका नाम सम्यग्ज्ञान चंद्रिका है। ताकी महिमा वचन अगोचर है। जो कोई जिनधर्म की और केवलज्ञान की महिमा जाननी चाहे, तो वह इस सिद्धान्त का अनुभवन करे, बहुत क्या कहें? पुनश्च बारह हजार (श्लोक प्रमाण) त्रिलोकसारजी की टीका, **बारह हजार मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रंथ अनेक शास्त्रों के अनुसार और आत्मानुशासन जी की टीका तीन हजार इस प्रकार इन तीनों की टीका भी बनायी, और टोडरमलजी सैंतालीस वर्ष की आयु पूर्ण करके परलोक में गमन किया।** – पृष्ठ १७३-१७४

(२५१)

चर्चा :– देव-नारकी दोनों ही जलचर-थलचर-नभचर इन तीनों में उत्पन्न होते हैं। तथा ढाई द्वीप के मध्यम जघन्य उत्कृष्ट भोग भूमिया के पर्याप्त अवस्था में तीनों शुभ लेश्याएँ पायी जाती हैं। वे लेश्यायें बदलती रहती हैं। प्रत्येक की अन्तमुहूर्त स्थिति रहती है। – पृष्ठ २९०

(२५२)

प्रश्न :– द्रव्ययोग और भावयोग की परिभाषा बताकर उनके संबंध में कुछ विशेष जानकारी दीजिए?

उत्तर :– द्रव्ययोग तो आत्मा के प्रदेशों के चंचलपने को कहते हैं तथा आत्मा के प्रदेशों में कर्माकर्षण शक्ति का होना भावयोग है, जो केवलज्ञानगम्य है। मन, वचन, काय योग तो पौद्गलिक हैं, वे तो व्यवहारमात्र योग हैं। निश्चय तो द्रव्य और भाव-योग हैं। इन दोनों योगों का मन, वचन, काय की वर्गणा निमित्त-कारण है। इन पौद्गलिक मन, वचन, काय को भी योग कहा है, सो कारण में कार्य का उपचार करके कहा है – ऐसा जानना।

भावयोग के अविभाग-प्रतिच्छेद आत्मा के प्रदेशों में सदा घट-बढ़ ही रहते हैं, परन्तु इतना विशेष जानना कि केवलज्ञान समुद्घात के लोकपूरण के एक समय में सर्व प्रदेशों में भावयोग के अविभाग-प्रतिच्छेद समान रहते हैं– घट-बढ़ नहीं होते। तथा द्रव्ययोग का चंचलपना सदाकाल

समस्त प्रदेशों में पाया जाता है, परन्तु इतना विशेष जानना कि विग्रहगति में तीन समय की अनाहार दशा में मध्य के आठ प्रदेशों में चंचलपना नहीं होता, शेष प्रदेश तो तब भी चंचल रहते हैं।

भावार्थ :– अंतराल के तीन समय में मध्य के आठ प्रदेश अकम्प रहते हैं, ऐसा जानना। – पृष्ठ ७३

(२५३)

प्रश्न :– सम्यक्त्व के तिरेसठ (६३) गुण कौन–कौन से हैं?

उत्तर :– ८ अंग, ८ गुण, ८ मद का त्याग, ८ मूलगुण, ७ व्यसन का त्याग, ६ अनायतन का त्याग, ३ मूढ़ता का त्याग, ३ मिथ्यात्व का त्याग, ५ अतिचार का त्याग तथा ७ भयों का त्याग–इस प्रकार कुल ६३ गुण होते हैं। – पृष्ठ ३९

(२५४)

प्रश्न :– सासादनसम्यक्त्व गुणस्थान कब और कैसे होता है? और उपशमसम्यक्त्व का काल पूर्ण होने पर क्या होता है?

उत्तर :– प्रथमोपशम अथवा द्वितीयोपशम सम्यक्त्व का जब जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवली काल शेष रह जाये, तब अनंतानुबंधी के चतुष्क में से किसी एक कषाय का उदय आवे, तब सासादन–सम्यक्त्व गुणस्थान होता है। सासादन का काल इतना ही है; और यह काल उपशम–सम्यक्त्व के काल में ही शामिल है। उपशम सम्यक्त्व का काल पूर्ण होने के बाद यदि सम्यक्त्वमोहनीय का उदय हो तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व हो जाता है, और यदि मिश्रमोहनीय का उदय हो तो मिश्रसम्यक्त्व हो जाता है, और यदि मिथ्यात्व का उदय हो तो मिथ्यात्वरूप श्रद्धान हो जाता है। – पृष्ठ ६८

(२५५)

प्रश्न :– प्रथमोपशमसम्यक्त्व से गिरने वाले को ही सासादनगुणस्थान होता है, द्वितीयोपशमसम्यक्त्व से गिरने वाले को नहीं होता–ऐसा भी

देखने में आया है। किन्तु आपने दोनों सम्यक्त्वों में गिरनेवालों के होता है– ऐसा कहा, वह कैसे?

उत्तर :– द्वितीयोपशमसम्यक्त्व से गिरनेवाले को भी सासादनगुणस्थान होता है – ऐसा कई आचार्यों का मत है, परन्तु कई आचार्यों का मत ऐसा है कि मात्र प्रथमोपशम से गिरनेवाले को ही होता है। फिर सर्वज्ञ ने जैसा देखा है, वह प्रमाण है। – पृष्ठ ६९

(२५६)

प्रश्न :– नीचगोत्र और तीनों वेद का बन्ध कहाँ तक होता है?

उत्तर :– नीचगोत्र और तीनों वेद का बंध नवग्रैवेयकपर्यन्त होता है। – पृष्ठ ३२०

(२५७)

चर्चा :– छठे गुणस्थान में आहारक–तैजस समुद्घात होते हैं, अन्य नहीं होते–ऐसा हरिवंशपुराण में कहा है। – पृष्ठ २८८

(२५८)

प्रश्न :– द्वितीयोपशम सम्यक्त्व किस–किस गुणस्थान में किस अपेक्षा किस प्रकार पाया जाता है?

उत्तर :– द्वितीयोपशम सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यक्त्वधारी को उपशम श्रेणी माँड़ते समय आठवें से ग्यारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है, इससे नीचे उसका प्रारम्भ नहीं होता और न अस्तित्व ही है। परन्तु गिरने की अपेक्षा अर्थात् श्रेणी से गिरती हुई दशा में ग्यारहवें से लगाकर चौथे गुणस्थान तक पाया जाता है। – पृष्ठ ६८

(२५९)

प्रश्न :– सासादन सम्यक्त्व गुणस्थान कब और कैसे होता है? और उपशमसम्यक्त्व का काल पूर्ण होने पर क्या होता है?

उत्तर :– प्रथमोपशम अथवा द्वितीयोपशम सम्यक्त्व का जब जघन्य

एक समय और उत्कृष्ट छह आवली काल शेष रह जाये, तब अनंतानुबंधी के चतुष्क में से किसी एक कषाय का उदय आवे, तब सासादन-सम्यक्त्व गुणस्थान होता है। सासादन का काल इतना ही है; और यह काल उपशम सम्यक्त्व के काल में ही शामिल है। उपशम सम्यक्त्व का काल पूर्ण होने के बाद यदि सम्यक्त्व मोहनीय का उदय हो तो क्षायोपशमिकसम्यक्त्व हो जाता है, और यदि मिश्र मोहनीय का उदय हो तो मिश्र सम्यक्त्व हो जाता है, और यदि मिथ्यात्व का उदय हो तो मिथ्यात्वरूप श्रद्धान हो जाता है।

(२६०)

प्रश्न :- देवायु का बन्ध तो छठे गुणस्थान में होता है, किन्तु कहीं-कहीं सातवें गुणस्थान में भी होना लिखा है, वह कैसे?

उत्तर :- देवायु के बंध का प्रारम्भ तो छठे गुणस्थान में ही होता है, परन्तु पूर्णता सातवें में होती है, इस अपेक्षा से सातवें गुणस्थान में भी देवायु का बंध कहा है। - पृष्ठ ६१

(२६१)

प्रश्न :- प्रतिसमय असंख्यात व्यंतर-ज्योतिषी-भवनवासी-कल्पवासी देव मरते हैं तथा नारकी मरते हैं और उपजते हैं-ऐसा क्यों हैं?

उत्तर :- क्योंकि उनकी संख्यायें बहुत हैं। - पृष्ठ ६५

(२६२)

प्रश्न :- भावकर्म कितने प्रकार का है? कृपया बतलाइये।

उत्तर :- भावकर्म दो प्रकार का है। एक तो द्रव्यकर्म की अनुभाग-शक्ति अर्थात् फल देने की सामर्थ्य को भावकर्म कहते हैं, तथा रागादिक-अज्ञानादिक को भी जो घातियाकर्म के निमित्त से उत्पन्न होते हैं, भावकर्म कहते हैं। - पृष्ठ ३२०

(२६३)

प्रश्न :- लौकिक में किसी स्त्री-पुरुष के सर्प-बिच्छू का विष चढ़ा

हो तो वह मंत्र से उतर जाता है। जैनेतरों में भी अनेक प्रकार के मंत्रों से प्रत्यक्ष कार्य की सिद्धि दिखाई देती है; और मंत्र के अक्षर का कोई अर्थ नहीं, सो क्या रहस्य है?

उत्तर :– जिसके पुण्य का उदय होवे, उसके अज्ञानमय तपश्चरण से भी वचन चलता है; तथा उसके नाम के प्रभाव से जिस बात का मंत्र वह जोड़ता है, वही सिद्ध होता है–ऐसा जानना। और जिनमत में भी ऐसे ही अनादिनिधन बीजाक्षर हैं; वे अक्षर आगे–पीछे रखने से जिस–जिस जाति का मंत्र हो, उस–उस कार्य की सिद्धि के लिये वे निमित्त कारण होते हैं और कार्य की सिद्धि होती है– ऐसा वस्तुस्वरूप जानना। इस तरह मंत्र, तंत्र, औषधि, तपश्चरण की अचिंत्य शक्ति है – ऐसा जानना।

–पृष्ठ ३२४

(२६४)

प्रश्न :– उपशम श्रेणी माँडने की संख्या संबंधी क्या विधान है?

उत्तर :– नाना काल की अपेक्षा अर्थात् अन्य भवों में सब कुछ मिलाकर चार बार तक उपशमश्रेणी माँड सकता है–इससे अधिक नहीं; और पाँचवीं बार तो क्षपकश्रेणी माँडता ही है, ऐसा नियम है। तथा एक ही भव में (पर्याप्त में) दो बार से अधिक नहीं माँड सकता है।

– पृष्ठ ६५

(२६५)

प्रश्न :– क्या असैनी के भी कोटि पूर्व की आयु होती है?

उत्तर :– हाँ, असैनी के भी कोटि पूर्व की आयु होती है।

–पृष्ठ ६१

(२६६)

प्रश्न :– पुद्गल में अविभाग–प्रतिच्छेद क्या है? उसमें बंध कैसे होता है; और वह कितने प्रकार का होता है?

उत्तर :– पुद्गल के एक परमाणु में रूक्षता व चिक्कणता के एक

अंश को आदि देकर अनन्त अंश पर्यन्त होते हैं, इसका नाम अविभाग प्रतिच्छेद है।

भावार्थ :– एक खुले परमाणु में रूक्षता और सचिक्कणता का अंश घटता–बढ़ता रहता है। जघन्य हो तो एक अंश और उत्कृष्ट हो तो अनन्त हो जायें। परमाणु से परमाणु बंधता है, सो इन्हीं अंशों में बँधता है। एक अंश वाले परमाणु के बंध नहीं होता। दो से लगाकर दो–दो बढ़ते हुए तो सम्बन्ध और तीन से लगाकर दो–दो बढ़ते हुए विषमबंध होता है। रुक्षपरमाणु से रुक्षपरमाणु बंधे और चिकने से चिकना बंधे, उसे तो स्व–जातिबंध कहते हैं, तथा रुक्षपरमाणु से चिकना अथवा चिकने से रुक्ष बंधे, उसे विजातीयबंध कहते हैं। इस प्रकार स्वजाति–विजाति और सम–विषम बंध द्वारा पुद्‌गल स्कंध चार प्रकार से बंधरूप होते हैं–ऐसा जानना।

– पृष्ठ ७०

(२६७)

चर्चा :– द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव–लोक–राजा, पंच कुटुम्ब, निज निकट कुल, धर्म–इतने स्थानों में विरुद्ध कार्य नहीं करना।

भावार्थ :– लोक–विरुद्ध कार्य में तीव्र पाप उपजता है, इसलिए लोकाचार का भी उल्लंघन नहीं करना चाहिए। धर्म विरुद्ध कार्य अत्यन्त महापाप का कारण है। अत: धर्म–विरुद्ध कार्य तो नहीं करना और लोक–विरुद्ध कार्य भी नहीं करना। – पृष्ठ २८८

(२६८)

चर्चा :– जलचर, थलचर, नभचर इन तीनों कर्मभूमियाँ जीवों के पंचम गुणस्थान भी होता है–निषेध नहीं है। किन्हीं आचार्य के पक्ष से जिसके प्रथम आयु का बंध हो गया, पीछे सम्यक्त्व हुआ ऐसा कहा है।

– पृष्ठ २९०

(२६९)

प्रश्न :– आधार–आधेय संबंध कितने प्रकार का है? उदाहरण सहित बताइये?

उत्तर :– आधार–आधेय संबंध के चार भेद हैं। उनमें भिन्न आधार तीन प्रकार का है। यथा –

१) उपश्लेषिक आधार – चटाई के ऊपर कुमार सोता है – ऐसा कहें, वहाँ उपश्लेषिक आधार जानना।

२) वैषयिक आधार – आकाश में घटादिक द्रव्य रहते हैं – ऐसा कहना, वैषयिक आधार है

३) अभिव्यापक आधार – ''तिलों में तेल है'' – यह कथन अभिव्यापक आधार का उदाहरण है।

यह तीनों ही आधार–आधेय भिन्न–भिन्न हैं, इनके प्रदेश भिन्न हैं। चौथा अभिन्न आधार–आधेय है– 'जैसे स्वर्ण में पीतादिक गुण और कंकरादिक पर्याय आधेय हैं और स्वर्ण इनका आधार है। यह आधार–आधेय अभिन्न है, इसके प्रदेश भिन्न–भिन्न नहीं हैं–ऐसा इनका स्वरूप जानना।' – पृष्ठ १५८

ज्ञानदान :– पुन: आप पढ़ा हो तो औरों को सिखाइये तत्वोपदेश कर जिनमार्ग में लगाइए। स्वयं शास्त्र लिखिए व संशोधन करिए। गूढ़ काव्य व शास्त्र की टीका बनाइये, भावार्थ प्रगट कर टीका बनाइये अथवा धनादि खर्च कर नाना प्रकार के नये शास्त्र लिखाइये और धर्मात्मा पुरुषों को वाँचने (स्वाध्याय) के लिए दे। **यह ज्ञानदान सर्वोत्कृष्ट है। इसका फल भी ज्ञान है। सो इस ज्ञानदान के प्रभाव से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान, बिना अभ्यास किए हुए ही प्रकट हो जाता है। पश्चात् शीघ्र ही केवलज्ञान उत्पन्न होता है।** पुन: पर को आपने सुखी किया जो जगत् भी आपको सुखदायी (अनुकूल) परिणमन कराता है।

निर्ग्रंथ गुरु माहात्म्य

यहाँ निर्ग्रंथ गुरु की महिमा भावरूप स्तुति करते हैं–

कैसे हैं निर्ग्रंथ गुरु? दयालु है चित्त जिनका और वीतराग है स्वभाव जिनका, प्रभुत्व शक्ति से जो विभूषित हैं, तथा हेय–ज्ञेय–उपादेय के विचार से संयुक्त हैं, निर्विकार महिमा को प्राप्त हुए हैं।

जैसे राजपुत्र–बालक नग्न निर्विकार शोभता है, और सर्व पुरुष–स्त्रियों को प्रिय लगता है। सर्व पुरुष और स्त्री उसके रूप को देखते रहना ही चाहते हैं, स्त्रियाँ उसका आलिंगन करती हैं, तथापि उसका परिणाम निर्विकार ही रहता है, सरागतादिक को प्राप्त नहीं होता है। वैसे ही जिनलिंग का धारक महामुनि बालकवत् निर्विकार शोभायमान होता है, सर्वजन को प्रिय लगता है, सर्व स्त्री–पुरुष मुनि के रूप को देख–देखकर तृप्त नहीं होते। अथवा अपने निर्विकारादि गुणों को प्रगट किया है, तथा शुद्धोपयोगी मुनि ध्यानारूढ़ हैं, और आत्मस्वभाव में स्थित हैं–ध्यान बिना क्षणमात्र गँवाते नहीं हैं। कैसे स्थित हैं? नासाग्रदृष्टि धरकर अपने स्वरूप को देखते हैं, जैसे गाय बछड़े को देख–देखकर तृप्त नहीं होती, निरन्तर गाय के हृदय में बछड़ा बसता है, वैसे ही शुद्धोपयोगी मुनि अपने स्वरूप को क्षणमात्र भी विस्मरण नहीं करते।

गोवत्स समान निज स्वभाव से वात्सल्य अंग किया है, अथवा अनादि काल का अपना स्वरूप गुम गया था, उसको देखते हैं, अथवा ध्यानाग्नि से कर्मईंधन को अभ्यन्तर गुप्तरूप होते हैं, अथवा नगरादि को छोड़कर वन में जाकर नासाग्रदृष्टि रखकर ज्ञान–सरोवर में प्रवेश कर अमृत को पीते हैं, अथवा शुद्धामृत में केलि करते हैं अथवा ज्ञान–समुद्र में डूब गए हैं, संसार के भय से डरकर अभ्यन्तर में अमूर्तिक पुरुषाकार ज्ञानमय मूर्ति ऐसा चैतन्यदेव उसका सेवन करते हैं, अथवा सबको अशरण जानकर चैतन्यदेव की शरण को प्राप्त हुए हैं। यह विचार करते हैं कि मुझे तो एक चैतन्य धातुमय पुरुषाकार ज्ञायक महिमा का धारक ऐसा परम देव ही शरण है, अन्य नहीं है, ऐसा मेरे निस्सन्देह अवगाढ़ गाढ़ है। अथवा शुद्ध अमृत

से चैतन्य-देव का कर्म कलंक धोकर **स्वप्न** करते हैं, प्रक्षालन करते हैं। पीछे गमन होय तिसके सन्मुख ज्ञानधार को क्षेपण करते हैं, पश्चात् निज स्वभाव रूप चन्दन से उस चैतन्यदेव की अर्चना करते हैं; और अनन्त गुणोंरूपी अक्षतों को उसके ऊपर क्षेपते हैं, पीछे सुमन कहिए भला मन रूप आठ पाँखुड़ी संयुक्त पुष्पों को चढ़ाते हैं, और ध्यानरूप नैवेद्य को सन्मुख करते हैं, और ज्ञानरूप दीप से वहाँ प्रकाश करते हैं। मानों ज्ञानदीप से चैतन्य-देव का स्वरूप ही अवलोकन करते हों। पश्चात ध्यानरूपी अग्नि में कर्मरूपी धूप को उदार मन से मोकला-मोकला शीघ्रता से आछें-आछें क्षेपते हैं, ऐसे पूजन के फल रूप निजानन्द को वे मुनिराज प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार से मुनिराज अष्ट द्रव्य से पूजन करते हैं।

किसलिए पूजन करते हैं? मुक्ति के सुख की प्राप्ति के अर्थ। तथा कैसे हैं शुद्धोपयोगी मुनि? स्वयं तो स्वरूप में लग गये हैं, और वन के कोई भोले जानवर ठूंठ जानकर उनके शरीर से खाज खुजाते हैं, तथापि मुनियों का उपयोग ध्यान से चलायमान नहीं होता - ऐसे निज स्वभाव में लीन हुए हैं, तथा हाथी, सिंह, शूकर, व्याघ्र, मृग, गाय इत्यादि वैरभाव छोड़ि सन्मुख खड़े होकर नमस्कार करते हैं। वे भी अपने हित के अर्थ मुनि के उपदेश को चाहते हैं; तथा ज्ञानामृत का आचरण करके नेत्रों में अश्रुपात चलता है जो कि अंजुलि में एकत्रित हो जाता है, और जिसको चिड़ी, कबूतर आदि ऐसे भोले पक्षी जल जानकर नि:शंक होकर रुचि से पीते हैं। सो यह अश्रुपात नहीं चलते हैं, मानों यह आत्मीक-रस ही बहता हो, यह आत्मीक रस अभ्यन्तर में गया नहीं, इसलिए बाहर निकला है अथवा मानो कर्मरूपी वैरी का ज्ञान-खड्ग से संहार किया है, ताका रुधिर उछलि करि बाहर निकला है।

तथा कैसे हैं शुद्धोपयोगी मुनिराज? अपने ज्ञानरस से छक रहे हैं, अत: बाहर निकलने को असमर्थ हैं। कदाचित् पूर्व की वासना से निकलते हैं, तो उन्हें यह जगत् इन्द्रजाल-सा प्रतिभासित होता है, पश्चात् तत्क्षण ही स्वरूप में लग जाते हैं, तथा स्वरूप में लगने से आनन्द उपजता है,

जिसके कारण शरीर की ऐसी दशा होती है, रोमांच हो जाता है; और गद्गद् शब्द होता है तथा कभी-कभी तो जगत् के जीवों को उदासी मुद्रा प्रतिभासती है और कभी मानों मुनि ने निधि पाई है-ऐसी हँसती मुद्रा प्रतिभासती है-यह दोनों मुद्रा मुनियों को अत्यन्त शोभायमान होती है, तथा मुनि तो ध्यान में डूबकर सौम्यदृष्टि को धारण कर तिष्ठै हैं और बाह्य नगरादिक से राजादिक वन्दना करने आते हैं।

मुनिराज की आवास-चर्या :-

मुनिराज मसान भूमि में अथवा निर्जन पुराने वन में अथवा पर्वत कन्दराओं में, पर्वत के शिखर पर, नदी के तटों पर, उजाड़ भयानक अटवी में, एकान्त वृक्ष तले, वसतिका में, अथवा नगर के बाहर चैत्यालय में इत्यादि रमणीक मन के लगने में कारण तथा उदासीनता में कारण ऐसे स्थानों में विराजते हैं। जैसे कोई अपनी निधि को छिपाता फिरता है, और एकांत में जाने का अनुभव करता है, वैसे ही महामुनि अपनी ज्ञान-ध्याननिधि को छिपाते फिरते हैं, और एकांत में ही उसका अनुभव करना चाहते हैं, और ऐसा विचारते हैं कि मेरी ज्ञान-ध्यान निधि कहीं जाती न रहे अथवा **मेरे ज्ञान-भोग में कहीं अन्तराय न पड़ जाए, इसलिए महामुनि कठिन स्थान में बसते हैं, जहाँ मनुष्यों का संचार नहीं हो। मुनियों को पर्वत-गुफा-नदी-मसान-वन ऐसा लगता है, मानो ध्यान ही कहकर पुकारता हो।**

क्या कहकर पुकारता है? कहता है - ''आओ! आओ! यहाँ ध्यान करो! ध्यान करो! निजानन्द स्वरूप को विलसो! विलसो! तुम्हारा उपयोग स्वरूप में बहुत लगेगा। अत: अन्य कुछ मत विचारो! मत विचारो!''

शुद्धोपयोगी मुनि तीव्र पवन चले, वहाँ और घनी गरमी व धूप होय, वहाँ जोरावरी-हठपूर्वक नहीं बसते हैं-क्यों नहीं बसते हैं? मुनियों का अभिप्राय ध्यान-अध्ययन करने का ही है, जहाँ ध्यान अध्ययन अधिक सधै, वहाँ ही बसते हैं, और शाश्वत चाह-चाहकर परीषह को सहते हैं और शाश्वत दुर्द्धर-दुर्द्धर तप को ही करते हैं। तथा शाश्वत ध्यानमयी ही रहते हों, सो ऐसा नहीं है।

यद्यपि मुनियों के तो बाह्यक्रिया से तो प्रयोजन नहीं है और २८ मूलगुण ग्रहण किये हैं, उनमें तो अतिचार नहीं लगाते हैं, और तदुपरान्त भी क्रिया ग्रहण करते हैं, वह उपयोग लगने के अनुसार करते हैं। यदि भोजन करके शरीर को प्रबल हुआ जाने तो ऐसा विचारें कि यह शरीर प्रबल होगा तो प्रमाद को उत्पन्न करेगा। अत: एक दो दिन भोजन का त्याग ही करना उचित है। और यदि भोजन के त्याग से शरीर को क्षीण हुआ जानें, तो ऐसा विचारें कि यदि यह शरीर क्षीण होगा तो परिणामों को शिथिल करेगा और जब परिणाम शिथिल होंगे तो ध्यान-अध्ययन नहीं सधेगा। इस शरीर से मेरा कोई वैर तो है नहीं, यदि वैर हो तब तो इसका पोषण ही करते रहें, इसलिए मुनियों को शरीर से राग-द्वेष का तो अभाव है, अत: जिसमें मुनियों का ध्यान-अध्ययन सधै, वही वे करते हैं।

मुनिराज, पवन, गर्मी, कोलाहल, शब्दयुक्त, मनुष्यादिक के गमनयुक्त वाले स्थान पर नहीं बसते हैं, और यदि उधर बसें तो ध्यान अध्ययन से परिणाम च्युत हो जायें और मुनियों के तो एक कार्य ध्यान-अध्ययन ही है। इसमें अन्तराय पड़ने के जो कारण हैं, उन्हें तो दूर से ही छोड़ते हैं, और यदि स्वयं ध्यान में तिष्ठे हों और बाद में कोई ध्यान में अकारण आकर प्राप्त हो जायें तो या ध्यान-विनाशक कारण उपस्थित हो जाएं, तो ध्यान को छोड़ उठकर चले नहीं जाते। तथा शीतकाल में जल के किनारे ध्यान धारण, ग्रीष्मकाल में शिलातल पर अथवा पर्वत के शिखर पर ध्यान धारण करना, चातुर्मास में वृक्ष के तले ध्यान धारण करना तो अपने परिणामों की विशुद्धता के अनुसार करते हैं। परिणाम अत्यन्त विरक्त हों तो ऐसी एक जगह जाकर ध्यान धरें, अन्यथा दूसरे स्थान पर जहाँ भी मन लगे वहीं ध्यान धरें तथा अचानक सामने उपसर्ग आ जाये तो छोड़कर चले नहीं जाते, क्योंकि मुनियों की सिंहवृत्ति होती है।

जब तक मुनियों का परिणाम ध्यान में स्थित रहे, तब तक ध्यान को छोड़कर अन्य कोई कार्य करते नहीं हैं, और जब ध्यान से परिणाम उतरे, तब शास्त्राभ्यास करते हैं, तथा अन्य को भी कराते हैं अथवा अपूर्व जिनवाणी के अनुसार ग्रन्थ जोड़ते हैं (रचना करते हैं) और शास्त्राभ्यास

को छोड़कर ध्यान में लीन हो जाते हैं, क्योंकि **शास्त्राभ्यास की अपेक्षा ध्यान का फल अधिक विशेष है।** इसलिए नीचा-नीचा कार्य छोड़कर ऊँचा-ऊँचा कार्य करना उचित ही है। ध्यान में उपयोग की स्थिरता थोड़ी रहती है, और शास्त्राभ्यास में उपयोग की स्थिरता बहुत रहती है। इस कारण मुनिराज ध्यान भी धारण करते हैं और शास्त्र भी वाँचते हैं तथा उपदेश भी देते हैं। स्वयं गुरु के पास पढ़ते हैं तथा दूसरों को पढ़ाते भी हैं अथवा चर्चा भी करते हैं। मूलग्रन्थों के अनुसार अपूर्व ग्रंथ जोड़ते हैं, तथा नगर से नगरान्तर-देशान्तर में विहार भी करते हैं और भोजनार्थ नगरादि में जाते हैं। वहाँ पड़गाहे जाने पर क्षत्री, वैश्य, ब्राह्मण कुल में नवधाभक्ति संयुक्त छियालीस दोष और बत्तीस अन्तराय तथा चौदह भक्त दोष टालकर खड़े-खड़े करपात्र में आहार लेते हैं, इत्यादि शुभकार्य में प्रवर्तते हैं।

तथा मुनिराज उत्सर्ग मार्ग को छोड़कर परिणामों की निर्मलता के लिए अपवादमार्ग को आदरते हैं, (ग्रहण करते हैं) और अपवाद मार्गी उत्सर्ग-मार्ग को आदरते हैं, सो उत्सर्गमार्ग तो कठिन है और अपवादमार्ग सुगम है, मुनियों को ऐसा हठ नहीं है कि कठिन ही आचरें अथवा सुगम आचरण का ही आचरण करें।

भावार्थ :- मुनियों के तो परिणामों की तौल है, बाह्यक्रिया के ऊपर आधारित नहीं हैं, जिस-जिस और जैसी-जैसी प्रवृत्ति में परिणामों की विशुद्धता बढ़े और ज्ञान का क्षयोपशम बढ़े वही आचरण, वे आचरते हैं। ज्ञान और वैराग्य आत्मा का निज लक्षण है, वे उसी को चाहते हैं।

अब, मुनिराज कैसे ध्यान में स्थित हैं और कैसे विहार करते हैं तथा कैसे राजादिक आकर उनकी वंदना करते हैं-यह कहते हैं।

मुनि तो वन में, मसान में, पर्वत की गुफाओं में, शिखर पर अथवा शिला पर ध्यान जमाए बैठे हैं; और नगरादिक से राजा अथवा विद्याधर अथवा देवगुण वन्दना करने आए हैं। वे मुनिराज की ध्यानावस्था को देखकर दूर से ही नमस्कार कर वहाँ ही खड़े रहे, और कई पुरुषों के यह अभिलाषा वर्तती है कि कब मुनिराज का ध्यान खुले और कब हम निकट आकर प्रश्न करें,

और गुरु के उपदेश को सुनें तथा प्रश्नों के उत्तरों को जानें, और अतीत अनागत की पर्यायों को जाने, इत्यादिक अनेक प्रकार का स्वरूप गुरु के श्रीमुख से जानना चाहते हैं। इस प्रकार का स्वरूप गुरु के श्रीमुख से जानना चाहते हैं।

इस प्रकार अनेक पुरुष खड़े-खड़े विचार करते हैं, और अनेक पुरुष नमस्कार करके उठ जाते हैं, और कोई ऐसा विचार करते हैं कि हम मुनियों का उपदेश सुने बिना घर जाकर क्या करेंगे? हम तो मुनिराज के उपदेश बिना अतृप्त हैं और हमें नाना प्रकार की शंका है एवं नाना प्रकार के प्रश्न हैं, सो इन दयालु गुरु के बिना और कौन निवारण करे? इसलिए हे भाई! मैं तो जब तक मुनिराज का ध्यान नहीं खुलेगा, तब तक यहाँ ही खड़ा हूँ और मुनिराज तो परम दयालु है, तथापि अपने हित को छोड़कर हम सबको उपदेश कैसे देवें? इसलिए मुनिराज को यहाँ अपना आगमन सूचित मत करो, कदाचित् अपने आगमन के कारण वे अपने ध्यान से चलायमान हो गये तो हमें अपराध लगेगा। इसलिए गुप्त ही रहो (शान्त ही रहो) और कोई-कोई परस्पर ऐसे कहने लगे कि देखो भाई! मुनियों की कैसी दशा है, काष्ठ, पाषाण के स्तम्भवत् अचल हैं और नासाग्र दृष्टि है, संसार से अत्यन्त उदासीन हैं तथा अपने स्वरूप में अत्यन्त लीन हैं। इसी आत्मिकसुख के लिए ही राज्यलक्ष्मी को जीर्ण तृण के समान छोड़ दिया है, तो अपनी तो इनकी दृष्टि में क्या गिनती है? कोई कहने लगे कि भाई! अपनी गिनती तो नहीं, यह बात सत्य है, परन्तु ये तो परम दयालु हैं, महा उपकारी हैं, तरण-तारण समर्थ हैं, अत ध्यान खुलने पर हम लोग भी अपना कार्य सिद्ध करेंगे, तथा कुछ भाई ऐसा कहने लगे कि देखो भाई! मुनियों की कांति, अतिशय और साहस; कि कान्ति से तो दिशा उद्योत की है, अतिशय के प्रभाव से वन के सिंह, हाथी, शूकर, व्याघ्र, मृग इत्यादि पशुगण वैरभाव त्याग कर मुनियों को नमस्कार कर निकट बैठे हैं और मुनियों का साहस ऐसा है कि ऐसे क्रूर जानवर के समक्ष भी निर्भय होकर विराज रहे हैं; और ध्यान से क्षणमात्र भी विचलित नहीं हो रहे हैं। ये क्रूर पशु इन पर उलटे मोहित हो रहे हैं, सो यह बात न्याय की है, कि जैसा

निमित्त मिले वैसा ही कार्य उपजे, अत: मुनियों की शान्तता देखकर क्रूर पशु भी शान्तता को प्राप्त हुए हैं।

कोई कहते हैं कि इन मुनियों का साहस भी अद्‌भुत है। क्या जाने इनका ध्यान खुलेगा भी या नहीं, इसलिए यहाँ से नमस्कार करके घर वापिस चलो। अन्य कहने लगे कि अरे भाई! अभी कहाँ जाओगे? श्रीगुरु की अमृतवाणी पिये बिना घर वापिस जाने में क्या सिद्धि है? **तुम्हें तो घर अच्छा लगता है, परन्तु हमें तो लगता नहीं। हमें तो मुनियों का दर्शन उत्कृष्ट प्रिय लगता है,** और मुनियों का ध्यान भी अभी खुलेगा, बहुत देर हो चुकी है, इसलिए आप किसी प्रकार का विकल्प मत करो। कोई कहता है भाई! मैंने अच्छी कही इसके अत्यन्त अनुराग हैं सो यह धन्य है।

इस प्रकार परस्पर वार्तालाप हो रहा था कि इसी बीच में मुनियों का ध्यान खुला और बाह्य उपयोग द्वारा शिष्यों की तरफ देखने लगे। तब शिष्यजन कहने लगे हे भाई! मुनि परम दयालु, हमारी तरफ दया करके अवलोकन कर रहे हैं, मानों हमें बुलाते ही हैं, इसलिए सावधान होकर शीघ्र ही चलो, चलकर अपना कार्य सिद्ध करो, अत: वे शिष्य मुनियों के निकट जाते हुए और उनकी तीन प्रदक्षिणा देते हुए और हस्तयुगल मस्तक से लगाकर नमस्कार करते हुए और अनेक चरण-कमल में मस्तक धारते हुए और चरणों की रज मस्तक पर लगाते हुए और अपने को धन्य मानते हुए, तथा न अधिक दूर और न अधिक निकट इस प्रकार विनय पूर्वक खड़े रहते हुए और हाथ जोड़कर स्तुति करते हैं, क्या स्तुति करते हैं?

हे प्रभु! हे दयालु! हे करुणानिधि! हे परमोपकारी संसार समुद्रतारक! भोगों से पराङ्मुख, संसार से उदासीन, शरीर से निस्पृह, स्व-पर कार्य में रत, आत्मीक निजरस में लीन, ज्ञानामृत से तृप्त आप जयवन्त प्रवर्तो और हमारे ऊपर प्रसन्न होओ। हे भगवान! आपके बिना हमारा अन्य कोई रक्षक नहीं है, अब आप हमें संसार में से निकालो। संसार में डूबते जीवों को आपका ही सहारा है। आप ही आधार हो, आप ही शरण हो, अत: जिसमें हमारा चित्त हो वही करो, मुझे आपकी आज्ञा प्रमाण है। हम तो

निर्बुद्धि हैं-विवेक रहित हैं, विनय-अविनय हम समझते नहीं हैं, हमें तो एक अपने हित की ही वांछा है। जैसे बालक माता को लाड में चाहे जो कुछ बोले और लाडू आदि वस्तु को माँगे-सो माता-पिता बालक जानकर उससे प्रीति ही करें और खाने के लिए मिष्ठान्नादिक अच्छी-अच्छी वस्तुएँ निकाल कर देवें ही। वैसे ही प्रभुजी! हम बालक हैं और आप हमारे माता-पिता हो, अत: बालक जानकर हमारे ऊपर क्षमा करो एवं हमारे प्रश्नों का उत्तर दो, संदेह का निवारण करो, जिससे हमारा अज्ञान अंधकार दूर हो जाए और तत्त्वों का स्वरूप प्रतिभासित हो, आपा-पर की पहिचान हो जाए, ऐसा उपदेश हमें दो। इस प्रकार शिष्य-जन खड़े-खड़े वचनालाप करते हुए बाद में चुप हो रहे।

पश्चात् मुनिराज शिष्यों के अभिप्राय के अनुसार मिष्ट-मधुर आत्महितकारी-कोमल अमृतमयी वचनों की पंक्ति से मेघ-समान शिष्यों का पोषण करते हुए-कैसे पोषण करते हुए? और कैसे वचनोच्चार करते हुए? राजा को हे राजन्! देवों को हे देव! सामान्य पुरुष को हे पुत्र! हे भव्य! हे वत्स! तुम निकट भव्य हो! अब तुम्हारा संसार थोड़ा ही है। अत: तुम्हें यह धर्मरुचि उपजी है। अब तुम मेरे वचन अंगीकार करो। मैं तुम्हें जिनवाणी के अनुसार कहूँगा। वह तुम चित्त लगाकर सुनो। यह संसार महाभयानक है, धर्म बिना इस संसार का नाश नहीं हो सकता, इसलिए एक धर्म का ही सेवन करो। फिर ऐसा मुनियों का उपदेश पाकर यथायोग्य जिन-धर्म ग्रहण करते हुए तथा मुनि-श्रावक के व्रत ग्रहण करते हुए - कुछ जीव सम्यक्त्व को ग्रहण करते हुए - कोई यथायोग्य आखड़ी (प्रतिज्ञा) ग्रहण करते हुए कोई प्रश्नों के उत्तर सुनते हुए- कोई अपना संदेह निवारण करते हुए - इस प्रकार नाना पुण्य उपजाय-ज्ञान को बढ़ाकर मुनि को पुन: नमस्कार कर उनके गुणों का स्मरण करते हुए अपने स्थान को गये।

मुनिराज की विहार चर्या

जैसे निर्बंध-स्वेच्छाचारी वन में हाथी गमन करता है, वैसे ही मुनिराज गमन करते हैं। हाथी भी धीरे-धीरे सूँड की चालूणि करता (हिलाता हुआ)

और सूँड को भूमि से स्पर्श करता हुआ; और धरती को सूँड से सूँघता हुआ, नि:शंक निर्भय गमन करता है। वैसे ही मुनिराज भी धीरे-धीरे ज्ञान दृष्टि से भूमि को शोधते-शोधते नि:शंक स्वेच्छा से विहार कर्म करते हैं। मुनियों के भी नेत्रों के द्वारा ज्ञान-दृष्टि धरती पर्यन्त फैली हुई है, सो इनके यही सूँड है, अत: हाथी की उपमा संभव है। गमन करते हुए जीवों की विराधना नहीं करना चाहते हैं अथवा मुनिराज गमन नहीं करते हैं। भूली हुई निधि को हेरते (देखते) जाते हैं और गमन करते-करते ही स्वरूप में लग जाते हैं, तब खड़े रह जाते हैं। जब उपयोग से उतरते हैं, तब फिर गमन करते हैं, फिर एकान्त में तिष्ठ कर (बैठकर), आत्मध्यान करते हैं, और आत्मीक रस पीते हैं। जैसे कोई पुरुष क्षुधा से पीड़ित तृषावान ग्रीष्म समय हिमालय के जल में मिश्री मिलाय अत्यन्त रुचि से गटागट पीता है; और अत्यन्त तृप्त होता है, वैसे ही शुद्धोपयोगी महामुनि स्वरूपाचरण से अत्यन्त तृप्त हैं, बार-बार उसी रस को चाहते हैं। उसे छोड़कर कोई काल पूर्व की वासना से शुभोपयोग में लग जाते हैं, तब यह जानते हैं कि हमारे ऊपर संकट आया है अथवा यह हलाहल विष समान आकुलता हमसे कैसे भोगी जाये? इस समय हमारा आनन्द-रस चला गया।

पुन: हमें ज्ञानानन्द रस की प्राप्ति होगी कि नहीं? हाय! हाय! अब हम क्या करें? यह हमारा स्वभाव नहीं है। हमारा स्वभाव तो एक निराकुल बाधारहित अतीन्द्रिय अनुपम स्वरस रस पीने का है, वही हमें प्राप्त होवे। कैसे प्राप्त हो? जैसे समुद्र में मग्न हुआ मच्छ बाहर निकलना नहीं चाहता; और बाहर निकलने को असमर्थ है। वैसे ही हम ज्ञान-समुद्र में डूबकर पुन: नहीं निकलें, एक ज्ञान रस को ही पीते हैं। आत्मिक रस बिना और कहीं भी किसी में रस नहीं है। सर्व जगत की सामग्री चेतन-रस बिना जड़त्व स्वभाव को धारण करनेवाली फीकी है, जैसे लवण बिना रोटी शाकादिक। ऐसा ज्ञानी पुरुष कौन है जो ज्ञानामृत को छोड़कर औषधादिक आकुलतासहित दु:ख को आचरै? कदापि नहीं आचरै ऐसे ही शुद्धोपयोगी महामुनि ज्ञानरस के लोभी और आत्मिकरस के स्वादी निज स्वभाव से छूटते हैं, तब दु:खी होते हैं। आगे और भी कहते हैं।

मुनि ध्यान नहीं धारण करते हैं–मानों केवली की अथवा प्रतिमाजी की होड़ ही करते हैं। कैसी होड़ करते हैं? भगवान जी तुम्हारे प्रसाद से हमने भी निज स्वरूप को पाया है, सो **अब हम निज स्वरूप का ही ध्यान करेंगे। तुम्हारा ध्यान नहीं करेंगे, नहीं करेंगे। तुम्हारा ध्यान करने की अपेक्षा अपने निज–स्वरूप का ध्यान करने का आनन्द विशेष होता है। यह हमें अनुभव द्वारा प्रतीत होता है** और आगम में आपने भी ऐसा उपदेश दिया है। कैसा उपदेश दिया है? हे भव्य जीवो! **कुदेवों को पूजोगे तो अनन्त संसार में भ्रमण करोगे** और नरकादि के दु:ख सहन करने होंगे और सुदेवों को पूजोगे तो स्वर्गादि के मंद क्लेश को सहन करोगे और अपने निज स्वरूप का ध्यान करोगे तो, नियम से मोक्ष सुख को प्राप्त करोगे, इसलिए भगवान जी ऐसा उपदेश देने के कारण हमने तुम्हें सर्वज्ञ, वीतराग जाना है और जो सर्वज्ञ वीतराग हैं, वहीं जगत में सर्व प्रकार पूज्य हैं, ऐसा सर्वज्ञ–वीतराग जानकर हे भगवान! हम तुम्हें नमस्कार करते हैं।

सर्वज्ञ बिना तो सर्व पदार्थों का स्वरूप जाना नहीं जाता; और वीतराग बिना जाने तो भी राग–द्वेष के वश से यथार्थ उपदेश दिया नहीं जाता। वह या तो सर्वप्रकार अपनी निंदा का ही उपदेश दे सो यह लक्षण भलीभांति कुदेवों में संभावित है। अत: भगवान हम भी वीतराग हैं, अत: अपने स्वरूप की बढ़ाई करते हैं, सो हममें दोष नहीं है। दोष तो एक राग–द्वेष का ही है, सो हमारे भी आपके प्रसाद से राग–द्वेष दूर हो गया है–तथा कैसे हैं शुद्धोपयोगी महामुनि? जिसके राग–द्वेष समान हैं, निन्दा–स्तुति समान है, तथा सत्कार/पुरस्कार समान है, रतन–कौडी समान हैं, सुख–दु:ख समान है, उपसर्ग और निरूपसर्ग समान हैं तथा मित्र और शत्रु भी समान हैं।

शत्रु व मित्र कैसे समान हैं, सो यहाँ कहते हैं:–

पहले तो तीर्थंकर व चक्रवर्ती, बलभद्र, कामदेव, विद्याधर, बड़ा मंडलेश्वर मुकुटबद्ध राजा इत्यादि बड़ा महन्त पुरुष मोक्षलक्ष्मी के अर्थ संसार देह–भोग से विरक्त होकर राजलक्ष्मी को जीर्ण तृण के समान छोड़कर **संसार बंधन को हाथी की तरह तोड़कर वन में जाकर दीक्षा धारण**

करते हैं–निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा आदरते हैं। पश्चात् विशुद्ध परिणामों के माहात्म्य से नाना प्रकार की ऋद्धियाँ स्फुरायमान होती हैं।

कैसी है ऋद्धियाँ? कालबल ऋद्धि से तो तीन लोक को अनामिका अंगुली से उठा लेने की सामर्थ्य होती है और वचनबल ऋद्धि से द्वादशांग शास्त्र का अन्तर्मुहूर्त में पढ़ा जावे और मनबल ऋद्धि से द्वादशांग शास्त्र का अन्तर्मुहूर्त में चिंतवन कर लेते हैं। आकाश में गमन करते हैं, जल के ऊपर गमन करते हैं, तथापि जल के जीवों की विराधना नहीं होती। धरती विषैं डूब जावे, तथापि पृथ्वीकाय जीवों की विराधना नहीं होती। कहीं विष फैला पड़ा हो और शुभ दृष्टि से देखें तो वह विष अमृत बन जावे, तथापि वे ऐसा प्रयोग कभी नहीं करते हैं। यदि कहीं अमृत फैला हो, और मुनिराज दृष्टि डाल दें तो विष भी हो जावें, परन्तु ऐसा कभी करते नहीं हैं, और दया–शांत दृष्टि कर देखें तो कितने ही योजन पर्यंत के जीवन सुखी हो जावें, और दुर्भिक्ष आदि ईति–भीति का दु:ख मिट जाये सो ऐसी शुभ ऋद्धि दयालु बुद्धि से प्रयोग करें तो दोष नहीं। यदि क्रूर दृष्टि डालें तो कितने ही योजन के जीव भस्म हो जाये, परन्तु ऐसा करते नहीं हैं। और जिनके शरीर का गन्धोदक अथवा नवद्वार का मल और चरण–तल की धूलि और शरीर से स्पर्श किया हुआ पवन शरीर में लगायें तो गलित कुष्ठ आदि सर्व प्रकार के रोग नाश हो जावें।

मुनिराज ने जिस गृहस्थ के घर आहार किया है, उसकी भोजनशाला में नाना प्रकार की अखूट रसोई हो जावें, यदि उस दिन चक्रवर्ती का सम्पूर्ण कटक भोजन कर जाए तथापि घटे नहीं। तथा चार हाथ की रसोई के क्षेत्र में ऐसी अवगाहना शक्ति आ जावे कि चक्रवर्ती का समस्त कटक (सेना) समा जाये और बैठकर जुदा–जुदा भोजन करे तो भी स्थान की कमी नहीं होवें और जहाँ मुनिराज आहार करें, उसके घर पर पंचाश्चर्य की वर्षा हो, रत्न वृष्टि, पुष्प वृष्टि, गन्धोदक वृष्टि, जय–जयकार तथा देव दुंदुभि – ये पंचाश्चर्य जानना।

यदि सम्यग्दृष्टि श्रावक मुनि को एक बार भोजन देवे तो कल्पवासी देव

हो और मिथ्यादृष्टि मुनि को एक बार भोजन देवें तो उत्तम भोगभूमियाँ मनुष्य होवे, पीछे परम्परा मोक्ष जावे, ऐसा शुद्धोपयोगी मुनियों को एक बार भोजन देने का फल उपजे, और मुनिराज अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान के धारी, इत्यादि अनेक प्रकार के गुण संयुक्त होवे और कोई रंक पुरुष आकर महामुनि को गाली देवे अथवा उपसर्ग करे तो कभी भी क्रोध नहीं करते, परम दयालु बुद्धि से उसका भला चाहते हैं; ऐसा विचार करे कि यह भोला जीव है। इसे अपने हित-अहित की खबर नहीं है। यह जीव इन परिणामों से बहुत दुख पायेगा। हमारा तो कुछ बिगाड़ है नहीं, परन्तु यह जीव संसार समुद्र में डूबेगा। अत: हो सके तो इसको समझा दें- ऐसा विचार करके हित-मित-वचन दया-अमृत से झरते हुए भव्य जीवों को आनन्दकारी ऐसे वचन प्रकाशते हैं।

हे भव्य! हे पुत्र! तू स्वयं अपने को संसार समुद्र में मत डूबो दे! तू निकट भव्य है, और तेरी आयु भी तुच्छ रह गयी है, अत: तू अब जिनप्रणीत धर्म अंगीकार कर, एक धर्म बिना ही तू अनादि काल से संसार में भटका और नरक-निगोद आदि नाना प्रकार के दु:ख सहन किये वह तू भूल ही गया, इस प्रकार श्रीगुरु के दयालु वचन सुन वह पुरुष संसार के भय से कम्पायमान होता हुआ, शीघ्र ही गुरु के चरणों को नमस्कार करता हुआ, अपने किये अपराध की ही निन्दा करता हुआ और हाथ जोड़ खड़ा हुआ और ऐसा वचन कहता हुआ हे नाथ! हे प्रभु! हे दयासागर! हम पर क्षमा करो! हाय, हाय अब मैं क्या करूँ? यह मेरा पाप कैसे निवृत्त होगा? हमारे कौन पाप उदय में आया जो ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुई। बिना अपराध महामुनि पर उपसर्ग किया।

जिनके चरणों की सेवा इन्द्रादिक देवों को भी दुर्लभ है, और मेरे यह एक परमोपकारी त्रैलोक्य द्वारा पूज्य उन पर मैंने क्या जानकर उपसर्ग किया? हाय! हाय! अब मेरा क्या होगा? मैं किस गति में जाऊँगा? इस तरह वह पुरुष नाना प्रकार विलाप करता हुआ और दु:खी होता हुआ, एवं हाथ मसलता हुआ बार-बार मुनि के चरणों में नमस्कार करता हुआ,

उनके चरणों में लिपटता हुआ, जैसे समुद्र में डूबता हुआ कोई पुरुष जहाज को पकड़े, अवलम्बन ले, वैसे ही यह भी गुरु के चरणों का अवलम्बन लेता हुआ और यह निश्चय जानता हुआ कि अभी तो मेरे लिए ये चरण ही शरण हैं, अन्य शरण नहीं, यदि इस अपराध से बचूँगा तो इन्हीं के चरण सेवन से बचूँगा, अन्य उपाय नहीं है। मेरा दु:ख काटने में समर्थ हैं।

इस पुरुष की ऐसी धर्मबुद्धि को देखकर श्रीगुरु पुन: बोले–

हे पुत्र! हे वत्स! तू मत डरे–मत डरे! तेरा संसार (नाश) निकट आया है। इसलिए अब धर्मामृत को पी और जरा–मरणरूप दु:ख का नाश कर। ऐसे अमृतवाणी (वचनों) से उस पुरुष को पोषते हुए, जैसे ग्रीष्म समय में मुरझाई वनस्पति को मेघ पोषै, वैसे ही वे पोषता है। क्योंकि महंत पुरुषों का यह स्वभाव ही है कि अवगुण ऊपर गुण ही करें। अत: देव–गुरु तारने के लिए समर्थ क्यों न हों–होंवे ही होंवे।

तथा शुद्धोपयोगी वीतराग, भोगसामग्री में उदासीन, शरीर से निस्पृह शुद्धोपयोगी–स्थिरता के अर्थ शरीर को आहार दें। कैसे देवें, वही कहते हैं?

मुनिराज की आहार–चर्या

मुनियों के आहार के पाँच अर्थ हैं। **गोचरी** अर्थात् जैसे गाय को रंक या पुण्यवान कोई भी घास डाले तो उसे खाने से ही प्रयोजन है, उस पुरुष से कोई प्रयोजन नहीं है, वैसे ही मुनियों को चाहे तो रंक पड़गाह कर आहार देवे, चाहे राजादिक पड़गाह कर आहार देवें–उन्हें आहार लेने से प्रयोजन है, रंक अथवा पुण्यवान से प्रयोजन नहीं है।

दूसरा अर्थ भ्रामरी

भ्रामरी, अर्थात् जैसे भौंरा उड़ता–उड़ता पुष्प की वासना (गन्ध) लेता है, पुष्प को बाधा नहीं करता, **वैसे ही मुनिराज गृहस्थ के आहार लेते हैं, परन्तु गृहस्थ को अंशमात्र भी खेद नहीं देते।**

तृतीय अर्थ दाह समण

दाह समण अर्थात् अग्नि लगी हो, उसको जिस किसी वस्तु से वा जिस प्रकार से बुझा देना, वैसे ही मुनि के उदराग्नि सो ही हुई अग्नि उसको

जैसा-तैसा उचित आहार मिलैं, उससे बुझा देना, अच्छे-बुरे स्वाद का प्रयोजन नहीं है।

चतुर्थ अर्थ अक्षप्रेक्षण

जैसे गाड़ी, चिकनाई बिना चलती नहीं है, वैसे ही मुनिराज जानते हैं कि यह शरीर आहार दिये बिना शिथिल होगा और मुझे यह मोक्ष स्थान में पहुँचायेगा, तब तक इससे काम है। अत: इसको आहार देकर इसके आश्रित संयमादि गुण एकत्र करके मोक्षस्थान में पहुँचना है।

पंचम अर्थ गर्तपूरण

जैसे कोई पुरुष को गड्ढा भरना हो तो उसे वह ईंट, मिट्टी, कूडा, किसी से भी भर देता है, वैसे ही मुनिराज के नीहार आदि द्वारा कोठा अर्थात् उदर खाली हो गया हो तो उसको जैसे-तैसे शुद्ध आहार से भरते हैं।

इस प्रकार पाँच प्रकार के अभिप्राय जानकर वीतराग मुनि शरीर की स्थिरता के अर्थ आहार लेते हैं।

शरीर की स्थिरता से परिणामों की स्थिरता होती है और मुनियों के परिणाम के सुधार का ही निरन्तर उपाय रहता है। जिस बात में राग-द्वेष न उपजे उसी क्रियारूप वे प्रवर्तन करते हैं। अन्य प्रयोजन उनके नहीं है। अत: ऐसे शुद्धोपयोगी मुनि को गृहस्थगण दातार के सात गुणों समेत नवधाभक्ति से आहार देते हैं, वहीं कहते हैं :-

प्रतिग्रहण कहिये प्रथम तो मुनियों को पड़गाहै, फिर उच्च स्थान पर बैठावे, फिर पादोदक अर्थात् मुनि के पादकमल का प्रक्षालन करे। सो गन्धोदक वह अपना मस्तक आदि उत्तम अंग पर कर्म के नाश के अर्थ लगावै और अपने को धन्य अथवा कृतकृत्य मानै, फिर अर्चन अर्थात् मुनि की पूजा करै, फिर प्रणाम अर्थात् चरणों को नमस्कार करे, फिर मन शुद्ध अर्थात मन प्रफुल्ल महा हर्षायमान होकर तथा वचन शुद्धि अर्थात् मिष्टवचन बोले तथा कायशुद्धि अर्थात् विनयवान होकर शरीर के अंगोपांग को नम्रीभूत करे तथा एषणाशुद्धि अर्थात् दोष रहित आहार देवें।

---ooo---

इन्द्रध्वज विधान महोत्सव की पत्रिका

''स्वस्ति दिल्ली आगरा आदि नग्र के समस्त जैनी भायां योग्य सवाई जयपुर थी रायमल्ल कैनि श्री शब्द वांचनां। इहां आनंद वर्ते है। थांकै आनंद की वृद्धि हो। थे धर्म के बड़े रोचक हौ। अपरंच इहां सवाई जयपुर नग्र विषै इन्द्रध्वज पूजा सहर के बारै अधकोस परै मोतीडूंगरी निकटि ठाहरी है। पूजा की रचना का प्रारंभ तौ पोस बदि 1 सूं ही होने लागा है। चौसठि गज का चौड़ा इतना ही लाबा एक च्यौंतरा वण्या है। ता उपरि तेरह द्वीप की रचना वणी है। ता विषै यथार्थ च्यारि सै ठावन चैत्यालय, अढाई द्वीप के पांचमेरु, नंदीश्वर द्वीप के बावन पर्वत ता उपरि जिन मंदिर बणें हैं। और अढाई द्वीप विषै क्षेत्र कुलाचल, नदी, पर्वत, वन, समुद्र ता की रचना वणी है। कठै ही कल्पवृक्षां का वन, ता विषै कठै ही चैत्यवृक्ष, कठै ही सामान्य वृक्षां का वन, कठै ही पुष्पवाड़ी, कठै ही सरोवरी, कठै ही कुंड, कठै ही द्रह, कठै ही द्रहमांहिसूं निकसि समुद्र में प्रवेश करती नदी, ताकी रचना वणी है। कठै ही महलां की पंक्ति, कठै ही ध्वजा के समूह, कठैं ही छोटी-छोटी ध्वजा के समूह का निर्मापण हूवा है। पोस बदि 1 सूं लगाय माह सुदि 10 ताई सौ-ड्योढ सै कारीगर रचना करनें वाले-सिलावट, चितेरे, दरजी, खराधी, खाती, सुनार आदि लागे हैं। ताकी महिमा कागद मैं लिखी न जाय, देखें ही जानी जाय। सो ए रचना तौ पत्थर चूना के चौसठि गज का च्यौतरा ता उपरि बणी है। ताकैं च्यारव्यौं तरफ कपड़ा का सरायचांके कोट वणेगा और च्यारव्यो तरफ च्यारि वीथी कहिए गली, च्यारव्यौं तरफ के लोग दरवाजा मैं प्रवेश करि आवनें कौं। ऐसी च्यारा तरफा च्यारि वीथी की रचना, समवसरण की बीथी सादृश्य बनैंगी। अर च्यारा तरफा नैं बड़े बड़े कपड़ा के, वा भोडल का काम के, वा चित्राम का काम के, दरवाजे खडे होयगें। ताकै परैं च्यारव्यौ तरफ नौबतिखानां सरु होयगें। और च्यौंतरा की आसि पासि सौ दौ सै डेरे तंबू कनात खडे होयगे। और च्यारि हजार रेजा पाघ राती छीट लोंगी आए हैं सो निसान धुजा चंदवा बिछायत विषैं लागैंगे। दोय सै रूपा के छत्र झालरी सहित नवा घडाए हैं। पांच सात इन्द्र बणैंगे, तिनकै मस्तकै धरने कूं पांच सात मीनां

का काम के मुकुट वर्णेंगे। बीस तीस चालीस गड्डी कागदां की बागायति[1] वा पहोपवाडी[2] कै ताई अनेक प्रकार के रंग की रंगी गई है और वीस तीस मण रद्दी कागद लागे है ताकी अनेक तरह की रचना वणी है। पांच सै कडी वा सौटि बांस रचना विषैं लागैंगे और चौसठि गज का च्यौतरा उपरि, आगरा सूं आए, एक ही बडा डेरा धरती सूं बीस गज ऊंचा इकचोभा[3] दोय सैं फरास[4] आदम्यां करि खड़ा होयगा ता करि सर्व च्यौतरा उपरि छाया होयगी। और ता डेरा कै च्यारां तरफा चौईस चौईस द्वार कपड़ा के वा भोडल के झालरी सहित, अंत विषैं च्यौंतरा की कोर उपरि वणैं हैं। च्यारां तरफ के छिनबै द्वार भए। और डेरा कै बीचि ऊपर ने सोनां कै कलस चढे हैं। और ताकै आसि पासि घणां दरबार का छोटा बड़ा डेरा खड़ा होयगा। ताकै परैं सर्व दिवान मुतसधां का डेरा खडा होइगा ताकै परैं जात्र्यां का डेरा खडा होयगा। और पोस बुदि 1 सुं लगाय पचास रुपयां को रोजीनों कारीगरां को लागै है। सो माह सुदि 10 ताईं लागैगा, पाछै सौ रुपयां को रोजीनों फागण बदि 4 ताईं लागैगा। और तेरा द्वीप तेरा समुद्रा कै बीचि-बीचि छब्बीस कोट बणैंगा और दरबार की नाना तरह की जलूसी आई है, अथवा आगरै इन्द्रध्वज पूजा पूर्वें हुई थी ताको सारो मसालो व जलूस इहां आया है, और इहां सर्व सामग्री का निमत्त अन्य जायगा तैं प्रचुर पाइये है, तातें मनोरथ अनुसारि कार्य सिद्धि होंहिंगे एह सारी रचना द्वीप, नदी, कुलाचल, पर्वत आदि की घनरूप जाननी, चावल, रोली का मंडल की नांई प्रतर रूप नाहीं जाननी।

ए रचना त्रिलोकसार ग्रंथ कै अनुसारि बणी है। और पूजा का विधान, इंद्रध्वज पूजा का पाठ संस्कृत श्लोक हजार तीन 3000 ताकै अनुसारि होयगा। च्यारां तरफां-नैं च्यारिबड़ी गंधकुटी, ता विषैं बड़े बिंब विराजैंगे। तिनका पूजन च्यारा तरफां युगपत् प्रभाति मुखिया साधर्मी करैगे। पीछें च्यारा तरफा जुदा जुदा महत् बुद्धि का धारक मुखिया साधर्मी शास्त्र का व्याख्यान करैंगे। देश देश के जात्री आए वा इहां कै सर्व मिलि शास्त्र का उपदेश सुणैंगे। पीछैं आहार लेना आदि शरीर का साधन करि दोपहर दिन

1. बाग 2. पुष्पवाटिका, 3. कनात, टेण्ट, 4. फर्श साफ करनेवाले

चढ़े तैं लगाय दोय घड़ी दिन रहें पर्यंत सुदर्शन मेरु का चैत्यालय सूं लगाय सर्व चैत्यालया का पूजन इंद्रध्वजपूजा अनुसारि होयगा। पीछैं च्योंतरा की तीन प्रदक्षिणा देय च्यारा तरफा आरती होयगी। पीछै सर्व रात्रि विषै च्यारा तरफा जागरण होयगा। और सर्वत्र रूपा सोनां के जरी का वा तबक का वा चित्राम का वा भोडल के काम का समवसरणवत जगमगाट नैं लीयां सोभा बनैंगी। और लाखा रूपा सोना के दीप वा फूल पूजन कै ताई बने हैं। और एक कलका रथ वण्या है, सो बिना वलधा, बिना आदम्या, कलके फेरनें करि मन करैगा। ता ऊपरि भी श्री जी विराजैगे। और भी अनेक तरह की असवारी वर्णैंगी। इत्यादि अद्‌भुत आश्चर्यकारी सोभा जानौगे और सौ-दो सै कोस के जैनी भाई सर्व-सर्व संग बणाय कबीला सुधा आवेंगे अर इहां जैनी लोगा का समूह हैही।

अर माह सुदि दसै कै दिनि लाखा आदमी अनेक हाथी घोरे पालिकी निसाण अनेक नौवति नगारे आखी बाजे सहित बड़ा उछव सू, इंद्रां करि करी हुई भक्ति ता की उपमानैं लीयां, ता साहत चैत्यालय सूं श्री जी रथ उपरि विराजमान होइ, वा हाथी कै हौदे विराजमान होई, सहर कै वारैं तेरह द्वीप की रचना विषैं जाय विराजैगे। सो फागुण वदि 4 ताईं तहां ही पूजन होयगा। वा नित्य शास्त्र का व्याख्यान, तत्त्वा का निर्णय, पठन पाठन जागरण आदि शुभ कार्य चौथि ताईं उहां ही होयगा। पीछैं श्री जी चैत्यालय आय विराजैंगे। तहां पीछैं भी देश देश के जात्री पांच सात दिन पर्यन्त और रहैगे। ईं भांति उछव की महिमा जानोंगे। तातैं अपनें कृतार्थ कै अर्थि सर्व देस वा परदेस, के जैनी भायां कूं अगाऊ समाचार दे बाकूं साथि ले, संग वणाय, मुहूर्त्त पहली पांच सात दिन सीघ्र आवो। ए उछव फेरि ईं पर्याय मैं देखणां दुर्लभ है। ए कार्य दरबार की आज्ञा सूं हूवा है और ए हुकुम हुवा है जो ''थाकै पूजाजी कै अर्थि जो वस्तु चाहिजे सो ही दरबार सूं ले जावो।'' सो ए बात उचित ही है। ए धर्म राजा का चलायाही चालै। राजा का सहाय विनां ऐसा महत परम कल्याण रूप कार्य वणैं नांही। अर दोन्यूं दीवान रतनचंद वा बालचंद या कार्य विषै अग्रेश्वरी हैं, तातैं विशेष प्रभावना होयगी और इहां बड़े-बड़े अपूर्व जिन मंदिर वणें हैं। सभा विषै

गोम्मटसारजी का व्याख्यान होय है। सो बरस दोय तो हूवा, अर वरस दोय तांई और होइगा। एह व्याख्यान टोडरमल्लजी करै है। और इहां गोम्मटसार ग्रंथ की हजार अठसीस 38000, लब्धिसार क्षपणासार ग्रंथ की हजार तेरा 13000, त्रिलोकसार ग्रंथ की हजार चौदह 14000, मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रंथ की हजार बीस 20000, बड़ा पद्मपुराण ग्रंथ की हजार बीस 20000 टीका वणी है ताका दर्शन होयगा। और इहां बड़े-बड़े संयमी पंडित पाईये हैं ता का मिलाप होइगा।

प्रस्तुत प्रकाशन में सहयोग करने वाले दातार

श्री भभूतमल जी भण्डारी की स्मृति में प्राप्त सहयोग	25,000/-
पण्डित अशोक लुहाड़िया सौधर्म लुहाड़िया परिवार, अलीगढ़	11,000/-
श्री ध्रुवेश जैन, अहमदाबाद	11,000/-
पण्डित सौरभ शास्त्री, फिरोजाबाद	5,100/-
श्री शान्तिलाल मनीष साकेत सरावगी परिवार, कोलकाता	5,100/-
श्रीमती मंजूजी, गाजियाबाद	5,100/-
श्री विनीतकुमार अग्रवाल	5,100/-
श्री विनीतकुमार शास्त्री, आगरा	2,500/-
श्री अंबुज जैन अपार जैन परिवार, मेरठ	2,100/-
श्री संजय जैन श्रेय जैन परिवार, गौरझामर	2,100/-
पण्डित विकास शास्त्री, बानपुर	2,100/-
पण्डित कीर्तिंजय गोरे शास्त्री, परभणी, महाराष्ट्र	2,100/-
श्री हेमचन्दजी सुनील, शाहगढ़	2,100/-
श्री सतीशजी, अकलतरा	2,100/-
पण्डित अरुण मोदी, मकरोनिया, सागर	2,000/-
श्रीमती संध्या शाह	1,100/-
श्री क्रिनेश बी. शाह, भायंदर	1,100/-
गुप्तदान, हस्ते कोलकाता	1,000/-
श्रीमती इन्दु जैन, रतलाम	500/-
श्रीमती मंजू शाह	500/-
श्रीमती ऊषा शाह	500/-
श्रीमती रानी शाह	500/-
श्रीमती कमला देवी	500/-
श्रीमती गुणमाला देवी	500/-